दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० 2499 तंत्री-पुरुषोत्तमदास शिवलाल कामदार, भावनगर वर्ष 29 अंक नं० 3

अध्यात्म-पद

हम तो कबहुँ न हित उपजाये।
सुकुल-सुदेव-सुगुरु-सुसंग हित, कारन पाय गमाये ॥टेक॥
ज्यों शिशु नाचत, आप न माचत लखनहार बौराये।
त्यों श्रुत बांचत आप न राचत, औरन को समुझाये ॥1॥
सुजस-लाभ की चाह न तज निज, प्रभुता लखि हरखाये।
विषय तजे न रजे निजपद में, परपद अपद लुभाये ॥2॥
पाप त्याग निज-जाप न कीन्हों, सुमनचाप-तप ताये।
चेतन तन को कहत भिन्न पर, देह सनेही थाये ॥3॥
यह चिर भूल भई हमरी अब, कहा होत पछताये।
'दौल' अजौ भवभोग रचो मत, यौं गुरु वचन सुनाये ॥4॥

चारित्र
ज्ञान
दर्शन

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

जुलाई : 1973] वार्षिक मूल्य 4) रुपये (339) एक अंक 35 पैसा [अषाढ़ : 2499

श्री पंडित दीनदयालजी साधर्मीकृत

ज्ञान-दर्पण

[अंक 338 से आगे]

याही जगमाहिं ज्ञेयभाव कौ लखैया ज्ञान, ताको धरि ध्यान आन काहे पर हेरै है।
पर के संयोगतैं अनादि दुख पाए अब, देखि तू संभारि जो अखंड निधि तेरै है॥
वाणी भगवान की कौ सकल निचोर यहै, समैसार आप पुन्य पाप नहिं नेरै है।
यातैं यह ग्रंथ सिख-पंथ को सधैया महा, अरथ विचारि गुरुदेव यौं परेरै है॥85॥

व्रत तप सील संजमादि उपवास क्रिया, द्रव्य भावरूप दोउ बंधकौं करतु हैं।
करम जनित तातैं करमकौ हेतु महा, बंध ही कौं करैं मोक्ष-पंथ कौं हरतु हैं॥
आप जैसौ होइ ताकौं आपके समान करै, बंधही कौ मूल यातैं बंधकौ भरतु हैं।
यकौं परंपरा अति मानि करतूति करैं, तेई महा मूंढ़ भवसागर परतु हैं॥86॥

कारण समान काज सबही बखानतु है, यातैं परक्रियामाहिं परकी धरणि है।
याहीतैं अनादि द्रव्यक्रिया तौ अनेक करी, कछु नाहिं सिद्धि भई ज्ञान की परणि है॥
करमकौ वंस जामैं ज्ञानकौ न अंश कोउ, बढ़ै भववास मोक्ष-पंथ की हरणि है।
यातैं परक्रिया उपादेय तौ न कही जाय, तातैं सदाकाल एक बंध की ढरणि है॥87॥

पराधीन बाधायुत बंध की करैया महा, सदा विनासीक जाकौ ऐसो ही स्वभाव है।
बंध उदै रस फल जीमैं चार्यों एकरूप, शुभ वा अशुभ क्रिया एक ही लखाव है॥
करम की चेतना मैं कैसैं मोक्षपंथ साधै, माने तेई मूढ़ हीए जिनकै विभाव है।
जैसो बीज होय ताकौ तैसौ फल लागै जहां, यह जगमाहिं जिन-आगम कहाव है॥88॥

क्रिया शुभ कीजै पै न ममता धरीजै कहूं, हूजै न विवादी यामैं पूज्य भावना ही है।
कीजै पुन्यकाज सो समाज सारो पर ही को, चेतना की चाहि नाहिं सधै याकै याही है॥
याकौं हेय जानि उपादेय मैं मगन हूजै, मिटै है विरोध बाद रहै न कहाँ ही है।
आठों जाम आतम की रुचि मैं अनंत सुख, कहै 'दीपचंद' ज्ञानभाव हू तहाँ ही है॥89॥

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

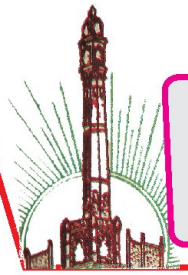

आत्मधर्म

संपादक : ब्र० हरिलाल जैन 卐 सह-संपादक : ब्र० गुलाबचंद जैन

जुलाई : 1973 ☆ अषाढ़ : वीर नि० सं० 2499, वर्ष 29 वाँ ☆ अंक : 3

अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख

जीव स्वयं सुखस्वभावी है। जैसे ज्ञान जीव का स्वभाव है, उसीप्रकार सुख भी जीव का स्वभाव है। उस स्वभाव की वीतरागदशा में अतीन्द्रिय सुख है, किंतु यह जीव उसे भूलकर—विपरीत दशा के कारण पर में सुख की मिथ्या कल्पना करता है; परंतु परद्रव्य जीव का कुछ भी नहीं करते। ज्ञान को इंद्रियों से पृथक् करके स्वभावसन्मुख होने पर अतीन्द्रिय सुख का वेदन होता है; और ऐसा अतीन्द्रिय ज्ञान ही अतीन्द्रिय सुख का साधन है। सुख कहो या धर्म कहो, उसमें शरीर, इन्द्रियाँ किंचित् साधन नहीं हैं। उन सबके अभाव में आत्मा स्वयं अकेला ही परम अतीन्द्रिय सुखरूप परिणमन करता है। जीव की शक्ति स्वयं सुखरूप परिणमन करने की है।

अहो, मोक्षसुख की ऐसी आनंदकारी बात प्रगट करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसे दिव्य आत्मस्वरूप का अनुभव करो... और बाह्य विषयों को छोड़ो! सिद्धभगवान जैसे अपने अतीन्द्रिय ज्ञान-आनंदरूप को जानकर, सुख के अभिलाषी जीव विषयालंबी भाव छोड़कर आत्मा का ही आश्रय करके परम आनंदरूप से परिणमन करो!

पर के कर्तापने की बुद्धिरूप अध्यवसान ही बंध का कारण है

जीव के अध्यवसान द्वारा पर का कोई भी कार्य नहीं होता, इसलिये वह अध्यवसान मिथ्या है; और मिथ्या होने से जीव के लिये अनर्थकारी है। इसप्रकार अज्ञानमय अध्यवसान का मिथ्यापना समझाकर उसे छोड़ने का उपदेश है।

[समयसार गाथा 267 का यह प्रवचन जिज्ञासुओं को उपयोगी होने के कारण टेकरिकार्डिंग में से लिखकर यहाँ लिया गया है]

अपने ज्ञानचेतना स्वभाव को भूलकर अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि मैं परजीव को सुखी-दु:खी करता हूँ, परजीव मुझे सुखी-दु:खी करते हैं; मैं शुभ-अशुभराग द्वारा पर को जिलाता-मारता हूँ और परजीव मुझे जिलाते-मारते हैं; मैं परजीवों को बंधन या मुक्ति करता हूँ और परजीव मुझे बंधन या मुक्ति करते हैं।—ऐसा स्व-पर की एकत्वबुद्धि के कारण अज्ञानी जीव मानता है; परंतु उसकी मान्यतानुसार कहीं परजीव का काम नहीं होता। परजीव में सुख-दु:ख, हर्ष-शोक हों या न हों, वह उसके अपने कारण होते हैं, इस जीव के भावों के कारण उसमें कुछ नहीं होता। इस जीव का मिथ्या अभिप्राय उसे स्वयं को चार गतियों में भ्रमण करने का कारण होता है; पर के लिये तो वह मिथ्या अभिप्राय किंचित् कार्यकारी नहीं है अर्थात् अकिंचित्कर है, मिथ्या है, निष्फल है।

हिंसा के अशुभपरिणाम अथवा अहिंसा के शुभपरिणाम, उनके द्वारा मैं पर को मार सकता हूँ या जिला सकता हूँ—ऐसी जो मिथ्यामान्यता है, वह मान्यता ही पापबंध का मूल कारण है। परजीव मरे या न मरे परंतु अज्ञानी अपनी मिथ्यामान्यता के कारण बँधता है। हिंसा-अहिंस के परिणामों की भाँति, असत्य और सत्य आदि में भी जीव को पर के साथ की एकत्वबुद्धि ही बंध का कारण है, पर की क्रिया बंध का कारण नहीं है। क्रिया तो अलग है; शुभ-अशुभ परिणामों के साथ जो एकत्वबुद्धि करता है, वही पुण्य-पाप द्वारा बँधता है। परवस्तु

तो इस आत्मा के अस्तित्व से भिन्न है, वह आत्मा में क्या करेगी ? और आत्मा उसमें क्या करेगा ?—ऐसा भिन्नत्व का भेदज्ञान करके ज्ञानभावरूप परिणमित हो, उसे बंधन नहीं होता।

बंध के कारण में यहाँ तो अज्ञानी के मिथ्यात्व को ही मुख्य गिना है। लोग अहिंसादि शुभपरिणाम को धर्म मानते हैं, परंतु वह धर्म नहीं है; यहाँ तो कहते हैं कि वे अहिंसादि के शुभभाव मेरा कार्य है और उस अहिंसा के भाव द्वारा मैं पर को बचा सकता हूँ—ऐसी बुद्धि, वह तो मिथ्यात्व है और वह अधर्म है, बंध का ही कारण है। अशुभ में एकत्वबुद्धि या शुभ में एकत्वबुद्धि—वे दोनों मिथ्यात्व ही हैं। राग से पृथक् होकर भेदज्ञान द्वारा जो ज्ञानरूप परिणमित हुआ, उस ज्ञानी को बंधन नहीं होता। जिसे मिथ्याबुद्धि है, वह अशुभ करे या शुभ, परंतु वह मिथ्यात्व से बँधता ही है।

भाई, अपने आत्मा के ज्ञानस्वभाव के आधार से तू वीतरागभाव को उत्पन्न कर और राग को न कर—ऐसे भाव द्वारा तू अपने आत्मा की दया कर; अपने आत्मा को मिथ्यात्व की हिंसा के घात से बचाकर अहिंसा कर।—ऐसी वीतरागी स्व-दया, वह परमार्थ अहिंसा है, और ऐसी अहिंसा, वह धर्म है, वह मोक्ष का कारण है।

भाई, तू अशुभ में एकत्वबुद्धि कर या शुभ में एकत्वबुद्धि कर, वह एकत्वबुद्धि ही तुझे बंध का कारण है। मिथ्यात्व दूर होने के पश्चात् जो बंधन हो, उसे बंध में नहीं गिनते, क्योंकि ज्ञान में उसका कर्तृत्व नहीं है; ज्ञानभूमिका में धर्मी जीव राग को नहीं आने देता। जीव का मिथ्याभाव, वह बंध का एक कारण, और परजीव मरे या बचे, वह बंध का दूसरा कारण—इसप्रकार बंध के दो कारण नहीं है, परंतु अज्ञानी जीव का अध्यवसान, वह एक ही बंध का कारण है।

जिसप्रकार आकाश के फूल को तोड़ने की बुद्धि मिथ्या ही है, क्योंकि वह सत् नहीं है; उसीप्रकार परवस्तु की क्रिया आत्मा करता है, ऐसी बुद्धि; पर को मैं सुखी-दुःखी करता हूँ, ऐसी बुद्धि, वह मिथ्या ही है, क्योंकि आत्मा में पर की क्रिया का अभाव है। आत्मा में जो है ही नहीं, उसे आत्मा कैसे करेगा ? तथापि मिथ्याबुद्धि से पर का कर्तापना माने तो वह अपने को ही अनर्थ का कारण है; पर में तो उससे कुछ भी नहीं हो सकता। इसप्रकार अध्यवसान पर के लिये अकिंचित्कर है और अपने लिये अनर्थ का-दुःख का-बंध का कारण है, इसलिये वह छोड़नेयोग्य है।

परवस्तु तो बंध का कारण नहीं है। अब, अशुभभाव या शुभभाव—उन दोनों समय में कर्तृत्वबुद्धिरूप जो अज्ञानभाव है, वही बंध का कारण है और जहाँ वह अज्ञानभाव छूटकर ज्ञानभावरूप परिणमन हुआ, वहाँ उस ज्ञान में बंधन है ही नहीं। यहाँ दो बातें ली हैं:—एक राग से भिन्न ज्ञानरूप परिणमन ही मोक्ष का कारण है और दूसरी रागादि में एकताबुद्धिरूप अज्ञानभाव ही बंध का कारण है। फिर उनमें एक शुभ और दूसरा अशुभ—ऐसे भेद की मुख्यता नहीं है। भले ही द्रव्यलिंगी साधु होकर अहिंसा, सत्य आदि पंच महाव्रतों का पालन करता हो, परंतु उन महाव्रतों के शुभराग के साथ जिसे ज्ञान की एकत्वबुद्धि वर्तती है, वह अज्ञानी है और उसका अज्ञानमय भाव बंध का कारण है।

पर के कर्तृत्व की जो मिथ्याबुद्धि है, उसका कोई सत् विषय जगत में नहीं है। परवस्तु जगत में सत् है परंतु यह जीव अज्ञानभाव से भी उसका कर्ता हो सकता है—ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है। वस्तुस्वरूप जैसा नहीं है, वैसा माने तो वह मान्यता मिथ्या है और वह मिथ्या मान्यता ही जीव को दु:ख का एवं बंध का कारण है, अन्य कोई नहीं। जैसे—कभी हिंसा या प्रमाद का भाव न होने पर भी मुनीन्द्र के पाँव तले कोई कालप्रेरित कीड़ा आ जाये तो वहाँ वह बाह्यक्रिया कहीं मुनीन्द्र को बंध का कारण नहीं होती। बंध का कारण अपना भाव और उसमें भी रागादि के साथ एकताबुद्धिरूप अज्ञानभाव ही बंध का कारण है। राग से भिन्नतारूप ज्ञानभाव हुआ, उसमें बंधन नहीं है।

जीव को बंध-मोक्ष का कारण उसका अपना जो भाव हो, वही होता है; परंतु जीव से जो भिन्न है, ऐसी परवस्तु जीव को बंध का या मोक्ष का कारण नहीं होती। अज्ञानी को रागादि के साथ तन्मयभाव है, वह अज्ञानभाव जीव का है, इसलिये वह उसे बंध का कारण होता है; परंतु उस समय की बाह्य हिंसादि क्रिया या जीव बचनेरूप क्रिया हो, वह कहीं इस जीव के साथ एकरूप नहीं है, इस जीव से तो वह भिन्न है और वह क्रिया सामनेवाले उन-उन जीवों के अपने कर्मोदय अनुसार होती है;—आयु न हो तो मरते हैं और आयु हो तो जीते हैं, उसका कर्ता यह जीव नहीं है, इसलिये उनकी क्रिया इस जीव को बंध का कारण नहीं है। अज्ञानी जीव को उसका अपना अज्ञानमय भाव ही बंध का कारण है और ज्ञानभाव में तन्मय वर्तनेवाले ज्ञानी को बंधन है ही नहीं।

यह जीव ऐसा मानता है कि मैं सामनेवाले जीव को धर्म की समझ देकर मोक्ष प्राप्त

करवा दूँ;—परंतु सामनेवाला जीव स्वयं वीतरागी ज्ञानभावरूप परिणमित न हो तो वह मोक्ष प्राप्त नहीं करता, इसलिये इस जीव की मान्यता तो व्यर्थ गई-मिथ्या हुई। उसीप्रकार यह जीव ऐसा माने कि मैं दूसरे जीव के परिणाम बिगाड़कर उसे बंधन में डाल दूँ, परंतु सामनेवाला जीव स्वयं सरागरूप परिणाम न करे तो वह बँधता नहीं है, इसलिये इस जीव की मान्यता तो व्यर्थ गई—मिथ्या हुई। यह जीव सामनेवाले को बंधन या मुक्ति करने की मान्यता न करे, तब भी सामनेवाला जीव उसके अपने सरागभाव से बँधता है और वीतरागभाव द्वारा मुक्त होता है; इसलिये पर की क्रिया जीव के अध्यवसाय बिना ही होती है, यह जीव उसका कर्ता नहीं है। इसीप्रकार परजीव या परवस्तु इस जीव के बंध-मोक्ष को नहीं करते। इसलिये हे भाई! पर के कर्तृत्व की मिथ्याबुद्धि छोड़कर, राग से भिन्न ज्ञातादृष्टास्वभावरूप रह—यही तात्पर्य है, यही मोक्षसुख का उपाय है।

भाई, तू कर्तृत्वबुद्धि न करे, तब भी बंध-मोक्षादि कार्य उनके अपने कारण होते ही रहते हैं। और पर में यदि बंध-मोक्षादि न होते हों, वहाँ तू कर्तृत्व का मिथ्या अभिप्राय करे, तब भी उसके कारण पर में तो कहीं बंध-मोक्ष होते नहीं हैं, इसप्रकार तेरा भाव पर में अकिंचित्कर है—व्यर्थ है; इसलिये उस मिथ्याभाव को छोड़ और राग से पार स्वद्रव्य का आश्रय कर। स्व-द्रव्य का आश्रय करके जो ज्ञानरूप परिणमित हुआ, उस ज्ञानी के ज्ञान में से पर का या राग का कर्तृत्व छूट गया है, इसलिये ज्ञानभाव में उसे बंधन होता ही नहीं है।

भाई, जगत के कोई कार्य कहीं तेरे परिणाम के आधार से तो होते नहीं हैं, इसलिये उनकी कर्तृत्वबुद्धि छोड़कर तू अपने ज्ञानभावरूप ही रह! तेरी भावना हो कि मैं किसी को मुक्त कर दूँ; परंतु वह जीव उसके अपने सम्यक्त्वादि वीतरागपरिणाम बिना कहाँ से मुक्त होगा? और वह जीव अपने वीतराग-परिणाम द्वारा मुक्त हुआ तो उसमें तूने क्या किया? और तू वैसी मान्यता न करे, तब भी जो जीव वीतरागभाव करते हैं, वे मुक्त होते ही हैं, और जो रागभाव करते हैं, वे बँधते ही हैं, इसलिये तू सारे जगत का बोझ अपने ज्ञान में से उतार दे। अहो, ज्ञानस्वभावी आत्मा पर में क्या करेगा? और परवस्तु ज्ञान में क्या करेगी? ज्ञान में विकल्प का भी कर्तृत्व नहीं है; ऐसे ज्ञान का अनुभव ही मोक्ष का कारण है। जीव माने कि मैं दूसरे को बंधन कर दूँ; परंतु वह जीव अपने रागादिभाव के बिना कैसे बँधेगा? इसलिये तेरा भाव पर में कुछ नहीं करता।—इसप्रकार सब ओर से छूटकर ज्ञान में आ जा! ●●●

परमागम का मधुर प्रसाद

[श्रुतपंचमी के दिन समयसार बन्ध अधिकार के प्रवचन से]

बंध अधिकार में बतलाया है कि शुद्धस्वभावरूप निश्चय का आश्रय, वही एक बंध से छूटने का मार्ग है। पराश्रयरूप जितना व्यवहार है, वह सब बंध का ही कारण है। इसलिये मुमुक्षु को निश्चय का आश्रय करके व्यवहार का आश्रय छोड़नेयोग्य है!

❀ व्यवहार का आश्रय करनेवाले जीव की कभी मुक्ति नहीं होती और निश्चय का आश्रय करनेवाले को बंधन नहीं होता— यह सर्व सिद्धांत का तात्पर्य है; इसलिये मुमुक्षु जन उदार ज्ञान द्वारा शुद्धनय का आश्रय करो।

❀ जैसे—पर के साथ एकत्वबुद्धिरूप अज्ञानमय अध्यवसान (फिर चाले वह हिंसादि अशुभ हो या अहिंसादि शुभ हो), वह बंध का ही कारण है; उसीप्रकार पर के आस्रव से होनेवाले समस्त भाव भी बंध का ही कारण हैं—वह सिद्धांत समझाने के लिये अभव्य का दृष्टांत दिया है कि—जिसप्रकार अभव्य जीव को व्यवहार का आश्रय करने पर भी कभी मुक्ति नहीं होती उसीप्रकार व्यवहार के आश्रय द्वारा भव्य जीव की भी कभी मुक्ति नहीं होती।

❀ कोई कहे कि एकांत व्यवहार का आश्रय करनेवाला तो नहीं छूटता, परंतु निश्चयसहित व्यवहार का आश्रय करे तो?—तो कहते हैं कि उसमें भी जितना व्यवहार का आश्रय है, उतना तो बंध का ही कारण है और जितना शुद्धनय का आश्रय है, उतना ही मोक्ष का कारण है।

❀ वीतराग भगवान द्वारा कथित, राग से भिन्न ज्ञान के अनुभवरूप जो शुद्धनय की आज्ञा उसे तो अज्ञानी जानता नहीं है और भगवान के कहे हुए व्यवहार ज्ञान-श्रद्धान-आचरणादि का भगवान की आज्ञानुसार बराबर पालन करता है, परंतु पराश्रयरहित शुद्धात्मा के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र को बिल्कुल नहीं जानता, इसलिये उस जीव की मुक्ति

नहीं होती; क्योंकि मुक्ति का कारण तो शुद्धनय का आश्रय ही है, व्यवहार का आश्रय वह कहीं मोक्ष का कारण नहीं है। जो व्यवहार के आश्रय को ही मोक्ष का साधन मानता है, उसने वास्तव में भगवान की आज्ञा नहीं मानी है।

❀ अरे, आनंद के धाम चैतन्य का जिसको अनुभव नहीं है और राग का जिसे अनुभव है—उसे सच्चे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र कौन कहेगा? भले ही शास्त्र पढ़े, समयसारादि का श्रवण करे, भगवान के कहे हुए तत्त्वों के भेद को श्रद्धा करे और अहिंसादि शुभभावरूप व्रतों का पालन करे, परंतु चैतन्य की निर्विकल्प शांति के स्वसंवेदनरहित वह जीव श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से शून्य ही है, मोक्ष का कारण उसे किंचित् नहीं है, वह मात्र बंधभाव का ही सेवन करता है।

❀ ज्ञान और श्रद्धा तो उसे कहा जाता है, जिसके साथ चैतन्य की निर्विकल्प शांति का वेदन हो। ऐसे श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक ही चारित्र हो सकता है। जहाँ श्रद्धा-ज्ञान ही सच्चे नहीं है, वहाँ चारित्र कभी नहीं होता। श्रद्धा-ज्ञान के पश्चात् ही सम्यक्चारित्र होता है।

❀ मोक्ष अर्थात् अकेले ज्ञानस्वभाव का अनुभव; जिसे ऐसे शुद्धज्ञान का अनुभव नहीं है, श्रद्धा नहीं है, उसे मोक्ष की ही श्रद्धा नहीं है। राग के अनुभव को जिसने मोक्ष का साधन माना, उसने मोक्ष को भी रागरूप ही माना है। बिल्कुल रागरहित जो शुद्धज्ञान—उसके पूर्ण अनुभवरूप मोक्ष की श्रद्धा पर के आश्रय से नहीं होती। अज्ञानी यों तो शास्त्रानुसार नवतत्त्वों को जानता है, उसमें मोक्षतत्त्व भी आ जाता है, परंतु वह तो परलक्षी स्वीकार है, अंतर में राग से भिन्न होकर ज्ञान के स्वसंवेदनपूर्वक मोक्ष की वह श्रद्धा नहीं करता।—अरे, ऐसे मोक्ष की श्रद्धा करे तो राग में किंचित् एकत्वबुद्धि न रहे। राग में एकत्वबुद्धि भी रहे और रागरहित मोक्ष की भी सच्ची श्रद्धा हो—ऐसा नहीं हो सकता। जहाँ मोक्ष की श्रद्धा, वहाँ राग में एकता नहीं और राग में एकता, वहाँ मोक्ष की श्रद्धा नहीं।

❀ अहो, शुद्धज्ञान अर्थात् मोक्ष; जिसमें कोई राग नहीं, पर का आश्रय नहीं; अकेले शुद्धज्ञान के आश्रय द्वारा पर्याय में निर्विकल्प शांति के वेदनसहित जो श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र हुए, वे रागरहित हैं, वह मोक्ष का कारण है।

❀ भले ही थोड़ा परंतु स्व के आश्रयवाला स्व के संवेदनवाला ज्ञान हो, वह मोक्ष का कारण है; और ऐसे स्वसंवेदन बिना ग्यारह अंग के करोड़ों श्लोकों की पढ़ाई, यह सब अज्ञान है, वह किंचित् मोक्षहेतु नहीं है।

❀ पर के आश्रय से जैन के व्यवहार का आश्रय करनेवाला जीव मिथ्यात्व एवं कषाय की मंदता करता है, परंतु उसका अभाव करके उससे भिन्न ज्ञान का स्वाद वह नहीं लेता, और ज्ञान के स्वाद बिना उसका सब मिथ्या है। पर के लक्ष से मिथ्यात्वादि की मंदता हुई, उसका मोक्षमार्ग में कोई मूल्य नहीं है; उस पराश्रितभाव द्वारा अंतर्मुखभाव का अंश भी आये, ऐसा तो हो ही नहीं सकता। अंतर में शुद्धज्ञान के आश्रय द्वारा मिथ्यावादि का अभाव करना मूल वस्तु है, वह मोक्ष का कारण है। ऐसे शुद्धज्ञान का अनुभव ही भगवान की परमार्थ आज्ञा है, वही शास्त्रों का तात्पर्य है। उसके बिना भले ही शास्त्र पढ़ा हो, परंतु शास्त्र पढ़ने का गुण (फल) जो शुद्धात्मानुभव, वह तो अज्ञानी को नहीं होता। अरे, जिस पढ़ाई में आत्मा नहीं आया, जिसमें ज्ञान का स्वाद नहीं आया, उस पढ़ाई का भगवान के मार्ग में कोई मूल्य नहीं है, उसकी सारी पढ़ाई अज्ञान ही है।

❀ शास्त्रों ने तो ऐसा कहा था कि रागादि से भिन्न वस्तुभूत ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उसे जान, उसे अनुभव में ले। शास्त्र पढ़कर भी जिसने ज्ञान का स्वाद नहीं लिया तो उसे शास्त्राध्ययन का क्या फल मिला? शुभराग का होना, वह कहीं शास्त्राध्ययन का सच्चा फल नहीं है। शास्त्रों ने राग से निरपेक्ष जैसी आनंदमय चैतन्यवस्तु बतलायी है, वैसी अपने वेदन में आये वही शास्त्राध्ययन का फल है, वही शास्त्राध्ययन का गुण है।

जिनपद निजपद एकता, भेदभाव नहीं कांई;
लक्ष थवाने तेहनो, कह्यां शास्त्र सुखदायी॥

❀ जिन समान शुद्धात्मा को लक्षगत करना, वह वीतरागी शास्त्रों का आदेश है। अकेले परालंबन में रहकर पढ़ता रहे, उसमें कहीं शास्त्र पढ़ने का सच्चा फल नहीं आता। शास्त्र ने कहा है कि तू अपने ज्ञानस्वभाव का आश्रय कर! शास्त्र का लक्ष छोड़कर जिसने ऐसा स्वाश्रय किया, उसी को शास्त्र पढ़ने का सच्चा फल मिला है।

❀ इसप्रकार स्वाश्रितभावरूप सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र ही मोक्ष का कारण है, और

पराश्रयरूप कोई भी व्यवहारभाव, वह मोक्ष का कारण नहीं है। शुद्धज्ञानमय निश्चय के आश्रयरूप जो मोक्षमार्ग, उसमें व्यवहारश्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की भी कोई अपेक्षा नहीं है, उस व्यवहार के-राग के अभाव में भी मुनि-भगवंत शुद्ध आत्मा के आश्रय से मोक्ष को साधते हैं।

❀ अरे भाई, एकबार जगत का सब एक ओर रखकर इस शुद्धज्ञान को लक्ष में ले। शुद्धज्ञान में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है। ऐसे शुद्धज्ञानमय भगवान आत्मा को अनुभूति कर.. वह अपूर्व है... वह शास्त्र का आदेश है और वही मोक्ष का कारण है।

❀ अहा, आत्मा तो सदा ज्ञानचेतनास्वरूप है; उस ज्ञानचेतना का अनुभव ही भूतार्थधर्म है। शुभराग आदि तो कर्मफलचेतना है, वह कहीं भूतार्थधर्म नहीं है; वह सच्चा धर्म नहीं है; मुक्त होने के कारणरूप वह धर्म नहीं है। मुक्त होने के कारणरूप धर्म तो ज्ञानचेतनामय है। जिसे चैतन्य की चेतना के स्वाद का वेदन नहीं है, वह जीव शुभकर्म को-पुण्य को मोक्ष का कारण मानता है, उसे सच्चे धर्म की श्रद्धा नहीं है; उसके समस्त परिणाम परोन्मुख ही वर्तते हैं; स्वोन्मुख परिणाम उसके नहीं होते; इसलिये भूतार्थरूप सच्चा आत्मा उसकी श्रद्धा में नहीं आता। भले ही वह शुभराग के वेदनरूप व्यवहारधर्म की श्रद्धा रखता हो, तथापि वह मिथ्यादृष्टि ही है। संभव है कि वह जीव राग के सेवन द्वारा ग्रैवेयक तक के भोगों को प्राप्त कर ले; परंतु चैतन्य की शांति का तो अंश भी उसे नहीं मिलता। ग्रैवेयक में जाकर वहाँ भी वह राग का ही वेदन करता है, राग से भिन्न ज्ञानचेतना के अपूर्व स्वाद की उसे खबर ही नहीं है।

❀ ग्रैवेयक में बाह्य में कहीं देवी आदि नहीं हैं, तथापि अंतरंग शुभराग के वेदन में जिसे मिठास लगती है, उसके अभिप्राय में राग के फलरूप भोगों में भी सुखबुद्धि वर्तती ही है। एक ओर चैतन्यसुख का वेदन तथा उसका जहाँ अभाव, वहाँ कर्मफलचेतना का वेदन—ऐसे दो विभाग करके ज्ञानी-अज्ञानी की बात समझायी है। ज्ञानी को चैतन्य के वेदन में राग के वेदन का अभाव है। अज्ञानी को ज्ञानचेतना का वेदन नहीं है, वहाँ राग का और भोग का ही वेदन है। ज्ञान के वेदनरूप सच्चे धर्म को, सच्चे मोक्षमार्ग को वह नहीं जानता, उसकी श्रद्धा एवं आचरण नहीं करता। अहो, ज्ञायकभाव से भरपूर चैतन्य

आत्मा, उसके निर्विकल्प रस की शांति का वेदन जहाँ होता है, वहाँ सच्चे श्रद्धा-ज्ञान-आचरण होते हैं, वहीं भूतार्थधर्म एवं सच्चा मोक्षमाग है। ऐसा मोक्षमार्ग शुद्धनय द्वारा अंतरस्वभाव के आश्रय से प्रगट होता है, किसी पर के आश्रय से ऐसा मोक्षमार्ग नहीं होता। पराश्रयरूप व्यवहार द्वारा मोक्षमार्ग का किंचित् लाभ नहीं होता।

❀ इसलिये शुद्धस्वभाव के अनुभवरूप आश्रय द्वारा पराश्रयरूप व्यवहार निषेध करनेयोग्य ही है और स्वभावसन्मुख ऐसा शुद्धनय आश्रय करनेयोग्य है। जहाँ शुद्धनय का आश्रय करके जीव परिणमित हुआ, वहाँ उसे पराश्रयरूप व्यवहार रहता ही नहीं है, इसी का नाम व्यवहार का निषेध है; परंतु 'मैं व्यवहार को छोड़ूँ'—ऐसे विकल्पों द्वारा कहीं व्यवहार का निषेध नहीं होता। अंतर के स्वभाव में ज्ञान एकाग्र होकर परिणमित हुआ, उसमें रागादि का परिणमन रहा ही नहीं। ऐसे शुद्धनय का आश्रय करनेवाला जीव स्वाश्रयभाव से आनंद का वेदन करते-करते निर्वाण को प्राप्त होता है।

अशुद्धता मिटाने का उपाय

शुद्ध स्वरूप का अनुभव करना ही अशुद्धता नष्ट करने का उपाय है। जो जीव परद्रव्य से अपने को राग-द्वेष मानता है, उसको अशुद्धता कभी दूर नहीं होगी। जो पर को अपना मानता है, उसे अशुद्धता नहीं होगी तो और क्या होगा? पर के कारण जो अशुद्धता मानता है, उसको अशुद्धता दूर करने का अवसर ही नहीं मिलेगा, क्योंकि अशुद्धता पर से मानी है, इसलिये उसे दूर करने के लिये वह पर की ओर देखता रहेगा, और पर की ओर देखने से अशुद्धता कभी दूर नहीं हो सकती। शुद्ध स्वभावरूप से अपना अनुभव करे, तभी अशुद्धता दूर हो सकती है। इसलिये शुद्धस्वरूप का अनुभव करना ही अशुद्धता को दूर करने का उपाय है—ऐसा हे जीवो! तुम जानो।

हिमालय जैसी वीतरागी-शीतलता से भरपूर आत्मा, उसमें प्रवेश करके मैं मुमुक्षुमार्ग पर जाता हूँ।

[श्री नियमसार, कलश 164 से 167]

आत्मा स्वयं शांत-अमृतरसमय बर्फ का पर्वत है; उसके वेदन में तो परमशांति है। ऐसे बर्फ के पर्वत समान अपने शांतस्वरूप को भूलकर, बाह्य में अनेक संकल्प-विकल्परूप आर्त-रौद्रपरिणामों द्वारा जीव संसार में भटकता है; ऐसा संसार तो स्वभाव से ही घोर दु:खों से भरपूर है, उसमें कहीं शांति नहीं है। चैतन्यतत्त्व में स्वभाव से ही सुख हे और संसार में स्वभाव से ही दु:ख है।

एक ओर आत्मा से बाह्य संसार के क्लेशरूप दु:खों का ढ़ेर; दूसरी ओर चैतन्य की अनुभूति में शांतिरूप बर्फ का पर्वत।

संसार में जीव दु:खाग्नि में तप रहे हैं; धर्मात्मा अंतर में चिदानंदतत्त्व में मानो बर्फ के शीतल पर्वत में बैठे हों—ऐसी परम शीतलता-शांति का अनुभव करते हैं।

एक ओर शांति का भंडार, दूसरी ओर दु:खों का ढ़ेर।

—ऐसा जानकर मुमुक्षु जीव चैतन्यतत्त्व की आराधना करके परम समता द्वारा मोक्ष को प्राप्त हुए, मैं भी उसी मुमुक्षुमार्ग पर जाता हूँ। मुमुक्षु जिस मार्ग पर गये, उस मार्ग पर मैं भी चलता हूँ। अहो, मेरा आत्मा अंतर में वीतरागी-शीतलता से भरपूर हिम का पुंज है-शांति का पिंड है; उसमें संसार का कोई ताप नहीं है। और ऐसे आत्मा के अतिरिक्त सारा संसार एकांत दु:खमय है, उसमें कहीं शांति नहीं है। इसलिये हे भाई! शुभ-अशुभ कर्म से पृथक् होकर तू चैतन्य की शांति के इस मार्ग पर आ! जिन्हें मोक्ष की आवश्यकता हो, ऐसे मुमुक्षुओं के लिये तो यह एक ही मार्ग है। अहा, चैतन्यतत्त्व को जहाँ लक्ष में लिया, वहाँ तो शांति का विशाल पर्वत हो—ऐसी शांति धर्मात्मा को प्रगटती है। जगत में सुखी तो सम्यग्दृष्टि-संत ही हैं।

ज्ञानशरीरी आत्मा तो आनंद की मूर्ति है और शरीर तो भव की मूर्ति है,—उसके आश्रय

से तो भव की और दु:ख की उत्पत्ति होगी। आनंदमय आत्मा के आश्रय से मोक्षसुख की उत्पत्ति होती है। धर्मी कहता है कि अरे! इस भव की मूर्ति ऐसे शरीर से पृथक होकर, आनंदमय आत्मा के अवलंबन से हम मोक्ष के मार्ग पर जा रहे हैं। आत्मा के दर्शन होने पर अंतर में ध्वनि उठती है कि बस! अब हम संसार के मार्ग से विमुख होकर जिस पथ पर मुमुक्षु गये, उस मोक्षपथ जा रहे हैं; शांति का पर्वत हमें मिल गया है। जिसप्रकार हिमालय पर्वत बर्फ से आच्छादित है, इसलिये उसे हिमालय (हिमराशि) कहा जाता है, उसीप्रकार यह चैतन्य-पर्वत आत्मा शांति की वीतरागी शीतलता से आच्छादित है, शांति का विशाल पुंज है। एंसी शांति में जो परिणति प्रविष्ट हो गई, वह परिणति अब विभाव को प्राप्त नहीं होती; वह संसारदु:ख से छूटकर मोक्षसुख का वेदन करती है। यही मुमुक्षु का मार्ग है। मोक्ष का पंथ कहो या मुमुक्षु का मार्ग कहो, सो यह एक ही है कि—अंतर में जो पुण्य-पाप से पृथक् शांति का हिमालय आत्मा—उसका आश्रय करना। हमारा मुमुक्षुओं का मार्ग तो आनंदमय है, वह कहीं रागमय नहीं है, उसमें अशांति नहीं है; असंख्य-प्रदेशों से परम शांति का झरना झरे, ऐसा यह मार्ग है। मुमुक्षु नि:शंकता से कहता है कि ऐसा मार्ग हमारे आत्मा में प्रगट हुआ है और ऐसे मार्ग से हम मोक्ष में जा रहे हैं।

शुभरागरूप सुकृत या अशुभरागरूप दुष्कृत, वह कोई मुमुक्षु का मार्ग नहीं है, मुमुक्षु का मार्ग तो शुभ-अशुभ दोनों से पार शुद्धात्मतत्त्व की भावनारूप है। बीच में राग हो, उसे तो वह बंध का कारण समझता है। अरे, राग के सेवन में कहीं शांति होती है? उसमें कहीं मोक्षमार्ग हो सकता है?

मोक्ष की मूर्ति आत्मा और भव की मूर्ति शरीर; अरे जीव! इस भव की मूर्ति से पृथक् होकर आत्मा को लक्ष में ले। भव की मूर्ति ऐसे शरीर का पोषण करने के लिये जीवन बिताता हे परंतु वह तो अस्थिर है, पुद्गल-स्कंध का ढ़ेर है, और आत्मा तो असंयोगी शांति का पुंज है, ज्ञानस्वरूप से सदा स्थिर रहनेवाला है; उस शांति की मूर्ति आत्मा का तू आश्रय कर... उसके आश्रय से तू भव से छूट जायेगा।

धर्मी कहता है कि इस शरीर का और मेरा कोई संबंध नहीं है। शरीर से मुझे जाननेवालों को मेरी पहिचान ही नहीं है। मैं तो शरीर से अत्यंत भिन्न ज्ञानमूर्ति हूँ; ऐसे ज्ञानमूर्ति शांति के

समुद्र में उतरकर मैं तो मोक्ष के मार्ग पर जाता हूँ। शरीर में मैं नहीं हूँ, मैं तो शरीर से अन्यत्र हूँ—कहाँ ? कि अनंत शांति के हिमालय में प्रविष्ट होकर शुद्ध चैतन्य की भावना में ही मैं बैठा हूँ; वही मैं हूँ। ऐसी शुद्ध चैतन्य की भावना मेरे भवरोग के नाश की अमोघ औषधि है। बस, हमारे चित्त में तो इन चैतन्यप्रभु का ही निवास है। शुभ-अशुभ (सुकृत या दुष्कृत)—ऐसे कर्मजाल से पृथक् होकर, चैतन्यप्रभु की गोद में बैठा हूँ, उसका आश्रय लिया है, अब मुझे कोई चिंता नहीं है; क्योंकि चैतन्य के आश्रय से भवरोग का नाश और मोक्षसुख की प्राप्ति होती है। इसलिये भव का नाश करनेवाली ऐसी चैतन्यभावना में ही मैं एकाग्र हूँ... वीतरागी शीतलता के हिमालय में जाकर बैठा हूँ, शांति के हिमालय में प्रवेश करके मैं मुमुक्षुमार्ग पर जाता हूँ।

अहो, वचनातीत चैतन्यवस्तु! गुरु-उपदेश के प्रसाद से ऐसी चैतन्यवस्तु के सुख का स्वाद आया, वहाँ अब सम्यग्दृष्टि को तीन काल-तीन लोक में अन्य कोई वस्तु इससे सुंदर नहीं लगती। चैतन्य की शांति स्वयंभूरमण समुद्र की अपेक्षा अगाध है। ऐसे चैतन्य की विस्मयता-महिमा छोड़कर अन्यत्र कहीं किसी वस्तु में जिसे विस्मयता एवं रस है, उसे चैतन्यरस का स्वाद नहीं आता। ऐसे जीवों को परम सुख का समुद्र सदा दुर्लभ है और धर्मात्मा जीवों के हृदय में यह परम सुखरूप चैतन्यतत्त्व सदा निवास करता है, एक क्षण भी नहीं हटता। ऐसे तत्त्व के सुख का अनुभव हुआ वहाँ तो आत्मा जागृत हो उठा, वहाँ अब मोहनिद्रा कैसी ? ऐसा तत्त्व हमारे अंतर में, हमारी परिणति में जयवंत वर्तता है। हमारा तत्त्व अपने अनुभव में प्रकाशित होकर विद्यमान वर्तता है।

अहो, संतों ने चैतन्यतत्त्व को अनुभव में लेकर प्रकाशित किया है। अरे, जिसने आनंद का सागर अंतर में देखा, उसे अब अपने से बाहर कहीं अच्छा नहीं लगता। अंतर में परम महिमावंत अपनी चैतन्यवस्तु का आलोचना-अवलोकन-अनुभवन करता हुआ तथा क्रोधादि सर्व परभावों को मूल में से उखाड़ता हुआ वह जीव मुमुक्षुओं के मार्ग पर मुक्तिपुरी में जाता है।

श्रावक की भावना

[धर्मात्मा की सच्ची संपदा]

मूढ़ लोग बाह्य लक्ष्मी को ही सर्वस्व मानते हैं; वे लक्ष्मी के हेतु आधा जीवन गँवा देते हैं और तरह-तरह के पाप बाँधते हैं तथापि उनमें सुख की प्राप्ति तो कभी होती नहीं है। भाई! ज्ञानादि अनंत चैतन्यरूप सच्ची लक्ष्मी तो तेरे आत्मा में विद्यमान है, उसे देख! तेरी चैतन्य-संपदा में बाहर की अनुकूलता या प्रतिकूलता कैसी? ऐसी चैतन्य-संपदा की प्रतीति बिना सच्ची शांति या श्रावकपना नहीं होता। सम्यग्दृष्टि की दशा पुण्य-पाप से भिन्न होती है। सम्यग्दर्शन के प्रताप से तीन लोक में श्रेष्ठ संपदारूप सिद्धपद उसे प्राप्त होता है, फिर अन्य किसी संपदा का क्या प्रयोजन है? बाह्य संपदा वास्तव में तो संपदा ही नहीं।

रत्नकरंड श्रावकाचार गाथा 27 में श्री समंतभद्राचार्य कहते हैं कि:—

यदि पापनिरोधोन्यसंपदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्त्रवोस्त्यन्यसंपदा किं प्रयोजनम्॥27॥

धर्मी श्रावक विचारता है कि—यदि मिथ्यात्वादि पापों का निरोध हो गया है तो फिर अन्य संपत्ति का मुझे क्या काम है? और यदि पाप का आस्रव होता हो तो ऐसी अन्य संपदा का मुझे क्या प्रयोजन है? जो जीव पापनिरोधी है, वह सम्यक्त्वादि अंतरंग विभूति द्वारा स्वयं महान है, उसे बाह्य संपदा की आवश्यकता नहीं है; और जो जीव पापास्त्रवी है, वह अंतरंग में दरिद्री है, फिर भले ही वह बाह्य में वैभववान हो-उसका कोई मूल्य नहीं है।

सम्यग्दृष्टि श्रावक निष्कांक्ष भाव से ऐसा विचार करता है कि यदि मेरी श्रद्धा-ज्ञान-शांतिरूपी आत्मसंपदा मेरे पास है तो मुझे बाह्य संपदा का क्या काम है? और जहाँ ऐसी

आत्मसंपदा न हो, वहाँ बाह्यसंपदा के ढ़ेर हों तो भी उससे क्या ? यदि मेरे सम्यक्त्वादि द्वारा आस्रव का निरोध है तो उसके फल में केवलज्ञानादि अनंत चैतन्यसंपदा मुझे सहज ही प्राप्त होगी, फिर बाह्यसंपदा का मुझे क्या काम है ? और बाह्यसंपदा के हेतु यदि पापकर्म का आस्रव होता हो तो ऐसी बाह्यसंपदा का मुझे क्या काम है ? मैं भगवान आत्मा स्वयं अपार चैतन्यसंपदा का भंडार हूँ—इसप्रकार आत्मा के सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानादि किये, वे श्रावक के रत्न हैं। ऐसे अचिंत्य रत्नों का भंडार मेरे पास है तो फिर मुझे बाह्य जड़लक्ष्मी का क्या काम है ? सम्यक्त्वादि के प्रताप से मेरे अंतर में सुख-शांतिरूपी समृद्धि वर्तती ही है, फिर मुझे अन्य का क्या काम है ? और जिसे अंतर में शांति नहीं है, सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि रत्नों की संपदा जिसके अंतर में नहीं है, तो बाह्यसंपदा के ढ़ेर उसे क्या करेंगे ? सच्ची संपदा तो वह है, जिससे आत्मा को शांति प्राप्त हो; (जो संप-सुख दे, वह सच्ची संपदा है) इसलिये आत्मा के सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-वीतरागता ही सच्ची संपदा है। ऐसी संपदावान सुखी धर्मात्मा बाह्य अनुकूलता-प्रतिकूलता दोनों को अपने से भिन्न जानता है, इसलिये उसे उनमें हर्ष-शोक नहीं होता, ज्ञान भिन्न का भिन्न रहता है।

अरे जीव! पाप के फल में तू दुःखी न हो, हताश न हो! उस समय प्रतिकूल संयोग से ज्ञान भिन्न है, उसे जान। पाप का उदय आने पर चारों ओर से प्रतिकूलता आ जाये—स्त्री, पुत्र मर जायें, भयंकर रोग और कष्ट हो, धन चला जाये, मकान जल जाये, साँप काट ले, महान अपयश-निंदा हो, अरे! नरक का संयोग भी आ जाये, (श्रेणिक राजा आदि असंख्य सम्यग्दृष्टि जीव नरक में हैं)—इसप्रकार एकसाथ हजारों प्रतिकूलतायें आ जायें, तथापि सम्यग्दृष्टि अपने ज्ञानस्वरूप की श्रद्धा को नहीं छोड़ता। भाई, उन संयोगों में कहाँ आत्मा है ? आत्मा तो भिन्न है और आत्मा का आनंद आत्मा में है—फिर सामग्री में हर्ष-शोक कैसा ? तेरी सहनशक्ति कम हो, फिर भी ऐसे श्रद्धा-ज्ञान तो अवश्य रखना, उससे भी तुझे चैतन्य की अपूर्व शांति का वेदन रहेगा।

तथा जिसप्रकार प्रतिकूलता से भिन्नत्व कहा, उसीप्रकार पुण्य के फल में चारों ओर की अनुकूलता हो—स्त्री-पुत्रादि अच्छे हों, शरीर निरोग हो, धन-संपत्ति, मकान-मोटर आदि हों, चारों और यशगान होता हो, अरे! देवलोक में उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्धि की ऋद्धि हो, तथापि उससे क्या ? उस संयोग में कहाँ आत्मा है ? आत्मा तो उससे भिन्न है; आत्मा का आनंद आत्मा में

है—ऐसा धर्मी जानता है और उसके ज्ञान में उसी का वेदन वर्तता है। पुण्य-फल के कारण वह अपने को सुखी नहीं मानता। जिसप्रकार किन्हीं अरिहंतों को तीर्थंकर-प्रकृति के उदय से समवसरणादि का अद्‌भुत वैभव होता है, परंतु उसके कारण कहीं वे अरिहंत भगवान सुखी नहीं हैं, उनका सुख तो आत्मा के केवलज्ञानादि परिणमन से ही है, इसलिये वह 'स्वयंभू' है, उसमें किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं है; उसीप्रकार निचली भूमिका में भी सर्वत्र समझना। सम्यग्दृष्टि अपने शुद्ध चैतन्यपरिणमन से ही सुखी है; पुण्य से या बाह्य संयोग से नहीं।

सर्वज्ञ की प्रतीति और धर्म का प्रारंभ

निर्मल भेदज्ञान द्वारा आत्मा का ज्ञान और उसमें लीनता प्रगट करके जिन्होंने बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह छोड़ा तथा शुक्लध्यान की श्रेणी के द्वारा चार घातिकर्मों को नष्ट करके केवलज्ञानादि अनंत चतुष्टय प्रगट किये—ऐसे सर्वज्ञदेव परमात्मा के वचन सत्य-धर्म का निरूपण करनेवाले हैं, ऐसे सर्वज्ञ की पहचान करने से आत्मा के पूर्ण ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होती है और तभी से धर्म का प्रारंभ का होता है। जो जीव सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं करता, उसको आत्मा की ही प्रतीति नहीं है, धर्म की ही प्रतीति नहीं है।

सर्वज्ञ के स्वरूप में जिसे संशय है, सर्वज्ञ की वाणी में जिसे संदेह है, सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य कोई भी सच्चे धर्म के प्रणेता नहीं हैं—ऐसा जो नहीं जानते और विपरीत मार्ग में दौड़ लगाते हैं, वे जीव मिथ्यात्वरूपी महा पाप को बाँधनेवाले पापजीव हैं—ऐसा कहकर धर्म के जिज्ञासुओं को सर्वप्रथम सर्वज्ञ और सर्वज्ञकथित मोक्षमार्ग की पहिचान करने को कहा है।

राग में स्थित रहने से सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं होती; रागादि सर्व दोषरहित निर्मल विज्ञानघन स्वभाव के लक्ष्य से राग से भिन्न होकर ज्ञानरूप-ज्ञानानुभूतिरूप होने से सर्वज्ञ की प्रतीति होती है। ऐसे सर्वज्ञ की और ज्ञानस्वभाव की पहिचान करके उनके वचनानुसार धर्म की प्रवृत्ति होती है। सम्यग्दृष्टि के जो वचन हैं, वे भी सर्वज्ञ के अनुसार हैं, क्योंकि उनके हृदय में सर्वज्ञ का निवास है।

एक था तोता

ज्ञानी का ज्ञान परिणमनरूप है, रटनरूप नहीं

भेदज्ञान होने पर जहाँ सम्यग्ज्ञान हुआ, वहाँ ज्ञानी को अतीन्द्रिय शांति का वेदन होता है। ऐसी शांति के वेदन बिना आत्मा के कषाय कभी शांत होते ही नहीं।—भले ही त्यागी हो, व्रतों का पालन करे या शास्त्र रटता रहे—वह तो सब तोता-रटंत (वाचा ज्ञान) है। तोता-रटंत का एक दृष्टांत है:—

एक था तोता।

उसके मालिक ने उसे बोलना सिखलाया कि—'बिल्ली आये तो उड़ जाना... बिल्ली आये तो उड़ जाना।'

एक बार सचमुच बिल्ली आयी और झपटकर तोते को पकड़ लिया; उस समय भी बिल्ली के मुँह में दबा हुआ वह तोता रटने लगा कि—'बिल्ली आये तो उड़ जाना... बिल्ली आये तो उड़ जाना... !' अब वह रटंत किस काम आती ? उस रटना से कहीं उसकी रक्षा तो होनेवाली थी नहीं।

उसीप्रकार अंतर में चैतन्यतत्त्व क्या है—उसकी प्रतीति के बिना 'शास्त्र में ऐसा लिखा है, राग को दु:खदायी कहा है, आत्मा को ज्ञानस्वरूप बतलाया है'—ऐसा तोते की भाँति रटा करे या अंतर में वैसे विकल्प किया करे, परंतु वास्तव में विकल्पों से पार होकर अंतर के चैतन्यतत्त्व में परिणाम न लगाये तो शांति कहाँ से हो ? बिल्ली के मुँह में दबे हुए तोते की भाँति विकल्प में स्थित रहकर वह रटता रहे कि—

'विकल्प से अलग होना... ज्ञानरूप होना... विकल्प से अलग होना...' परंतु वास्तव में अलग होकर ज्ञानरूप तो होता नहीं है, तो मात्र शास्त्र रटने से कहीं सम्यग्ज्ञान होनेवाला नहीं है; अंतर में वैसे भावरूप परिणमन होना चाहिये।

जिसकी ज्ञानचेतना राग से पृथक् हो गई है और सम्यग्ज्ञानरूप परिणमन हुआ है, उसे

'राग से पृथक् हूँ'—ऐसा रटन नहीं पड़ता; ज्ञान को टिकाने के लिये विकल्प नहीं करना पड़ते। जैसे—किसी तोते को 'बिल्ली आये तो उड़ जाना'—ऐसा बोलना भले ही न आता हो, परंतु बिल्ली के आगमन का प्रसंग आये, उस समय उड़कर दूर चला जाये तो उसकी रक्षा ही होती है। उसीप्रकार शास्त्रों की पढ़ाई भले अधिक न हो परंतु राग और ज्ञान की भिन्नता जानकर जिसकी परिणति चैतन्यभावरूप परिणमित हो गई है, उसका ज्ञान तो प्रत्येक प्रसंग में विकल्प से भिन्नरूप चैतन्यभावरूप ही वर्तता है; इसलिये जन्म-मरण से उसकी रक्षा होती है।

भाई, अपना सत्यस्वरूप तो पहिचान! ऐसा अवसर पाकर यदि अपने सत्यस्वरूप को नहीं जाना तो तूने क्या किया? आत्मज्ञानशून्य पशु के और तेरे जीवन में क्या अंतर हुआ?—अरे, तिर्यंचगति में भी जो जीव भेदज्ञान करता है, वह प्रशंसनीय है, वह देव जैसा है। जिसने अपने चैतन्यरस का स्वाद चख लिया, उसे राग में और पर में मिठास कहाँ रहेगी? वह राग में और पर में अपनत्व क्यों मानेगा? चैतन्य के सिवा अन्य कहीं अतीन्द्रिय आनंद की मिठास है ही नहीं; इसलिये भेदज्ञान द्वारा अपने चैतन्य के परम उपशमरस का स्वाद चखकर ज्ञानी सारे जगत से एवं राग से भी उदासीन वर्तते हैं। अहो, जिसने ऐसा भेदज्ञान किया, उसका बेड़ा भव से पार है।

भाई, संसार में पुण्य-पाप के फल तो चलती-फिरती छाया समान हैं। आज बड़ा जौहरी हो और कल भिखारी बनकर भीख माँगने लगे; आज भिखारी हो और कल बड़ा राजा बन जाये—क्या यह कोई ज्ञान का कार्य है? या इसमें कोई आश्चर्य है? यह जड़-पुद्गल का खेल है। आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है, उसमें न तो पुण्य है और न पाप है; पुण्य-पाप के कारणरूप राग भी उसके ज्ञानस्वभाव में नहीं है। ऐसे अपने स्वरूप को करोड़ों उपाय करके भी पहिचानना चाहिये और जगत के झंझट छोड़कर अंतर में उसे ध्याना चाहिये—यही लाखों बातों का सार है। इसके बिना दूसरी लाखों बातें भले करे, परंतु उनसे जन्म-मरण का अंत नहीं आ सकता। ज्ञानस्वरूप आत्मा का निर्णय करके सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट करने से जन्म-मरण का फंदा छूट जाता है, इसलिये यही सार है। ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान के अतिरिक्त अन्य लाखों बातें असार हैं, उनमें कोई सार नहीं है; इसलिये स्वोन्मुख होकर आत्मा को ध्याओ।

देखो, यही मुमुक्षु को करनेयोग्य कर्तव्य है।—कब? तो कहते हैं कि—सदा। 'नित आतम ध्याओ!' पुण्य-पाप से भिन्न निरंतर ज्ञानस्वरूप आत्मा को भाना। पुण्य के फल से सुखी और पाप के फल से मैं दु:खी—ऐसी भावना एक क्षण भी नहीं करना; परंतु दोनों से भिन्न ऐसे अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही सदा भाना चाहिये, उसकी श्रद्धा करके अपने अंतर में उसी का ध्यान करना चाहिये।—ऐसी भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञा है और संतों ने ऐसा कार्य किया है। संतों के सर्व उपदेश का सार इसमें समा जाता है।

अपने हित के लिये हे मुमुक्षु! आत्मा को ज्ञानस्वरूप जानकर उसे भाना! पुण्य में सुख है, जड़ सामग्री में सुख है अथवा वह जड़ की क्रिया मेरी है—ऐसा चिंतवन एक क्षणमात्र भी नहीं करना। पुण्य-पाप तो जगत का फंद है और आत्मा आनंदकंद है। आनंदकंद में राग-द्वेष का फंद नहीं है। राग-द्वेष से भिन्न तेरा ज्ञान ही तुझे सुखदाता है। भेदज्ञान के समान कोई सुख नहीं है, भेदज्ञान के अतिरिक्त कोई मोक्ष का कारण नहीं है; इसलिये हे मोक्षार्थी जीवो! सर्व प्रयत्न से ऐसे आत्मा का ज्ञान करके उसी को ध्याओ! जगत के दन्दफन्द छोड़कर अंतर में लाख उपायों से भी अपने आत्मा को लक्ष में लो! उसी को ध्याओ! यही सर्व बातों का सार है; लाखों शास्त्रों का सार इसमें समा जाता है।

☆★☆★☆★☆★☆★☆★

संसार में पुण्य का फल हो या पाप का फल हो, वे सब 'सकल जगत' में आ गये; आत्मा का ज्ञान उन सबसे पृथक् है। इसलिये श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि—

'सकल जगत ते अेठवत् अथवा स्वप्न समान,
ते कहिये ज्ञानीदशा बाकी वाचा ज्ञान।'

सर्व जगत से भिन्न शुद्ध-बुद्ध-चैतन्यघन-सुखधाम ऐसे स्वयं का जहाँ अनुभव है, वहीं ज्ञानीदशा है; ऐसे अनुभवरहित हो तो सब वाचाज्ञान (तोता-रटंत) है, वह सच्चा ज्ञान नहीं है।

☆★☆★☆★☆★☆★☆★

ज्ञानी का आत्मचिंतन

(श्री नियमसार गाथा 96-97 पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन)

अहा, परभावों से रहित चैतन्य के परमभावों से भरपूर तेरा आत्मा कैसा अचिंत्य-अद्भुत सुख-निधान है!—उसे सुनकर, उसकी महिमा लाकर, उसे चिंतन में तो ले! स्वसन्मुख चैतन्य के चिंतन की घड़ी, वह वास्तव में जीव की अपूर्व घड़ी है... वह धन्य अवसर है!

हे भाई! इस अवसर में प्रमाद करने जैसा नहीं है। जिसके अनुभव की वीणा की झंकार होते ही पर्याय में अतीन्द्रिय आनंद के वेदन से आत्मा डोल उठता है—ऐसा मैं स्वयं ही हूँ—इसप्रकार अंतर्मुख होकर अपने आत्मा का चिंतवन कर... ऐसा स्वात्मचिंतन, वह मोक्ष का कारण है।

☆★☆★☆★☆★☆★☆★

केवलज्ञान-दर्शन-सुख-शक्तिस्वभावरूप आत्मा है, वह सबको जानने-देखने पर भी अपने अनंत ज्ञानादि निजभाव को नहीं करता। ऐसा आनंदमय चैतन्यशक्ति-सम्पन्न परमात्मा मैं हूँ—ऐसा चिंतवन ज्ञानी अंतर्मुख ज्ञान द्वारा करते हैं।

ऐसे आत्मा को जिसने जाना, उसने जाननेयोग्य जान लिया, देखनेयोग्य देख लिया, सुननेयोग्य सुन लिया और ग्रहण करनेयोग्य ऐसे स्वतत्त्व को ग्रहण कर लिया। और जिसने ऐसे निजात्मा को नहीं जाना, उसने कुछ नहीं जाना। वह भले ही दूसरा चाहे जितना पढ़े-सुने-जाने, परंतु वह सब थोथा है, क्योंकि जाननेयोग्य सच्चा तत्त्व उसने जाना नहीं है और सच्चा तत्त्व उसने सुना नहीं है।

धर्मात्मा कहते हैं कि—अहा, शाश्वत आनंदमय यह चैतन्यहंस मुनियों के हृदय-सरोवर में केलि करनेवाला है, वह जयवंत वर्तता है अर्थात् हमारी परिणति में वह विद्यमान

वर्तता है। ऐसे परमस्वभावी आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान में लेकर उसका चिंतन किया, वहाँ समस्त परभाव उस चिंतन में से छूट गये, इसलिये वहाँ सहज ही परभावों का प्रत्याख्यान हो गया। ऐसा सहज स्वभावी आत्मा जिसने जाना नहीं है, उसे उसका चिंतन भी नहीं होता, इसलिये परभावों का त्याग भी उसे नहीं होता। जिसके श्रद्धा-ज्ञान तो परभावों के ग्रहण में ही रुक गये हैं, उसको परभाव का प्रत्याख्यान कैसा ?

अहा, एकबार अपने परमस्वभाव को श्रद्धा-ज्ञान में लेकर उसका चिंतन कर। अंतर में परमहंस चैतन्यप्रभु आनंदसहित विराजमान हैं। अरे, ऐसे आनंदमय आत्मा की अनुभूति यदि नहीं करेगा तो फिर जीवन में और करना क्या है ? अरे, बम्बई के निकट देवनार के कत्लखाने में कई हजार पशु रोज कटते हैं—ऐसा सुनकर कँपकँपी आ जाती है परंतु भाई ! तू आत्मप्रतीति के बिना अनंत बार संसार में कटा है, और अज्ञान के कारण संसार में भटकते-भटकते अनंत बार तूने स्वयं कसाई बनकर ऐसे कत्लखाने खोले हैं। अब ऐसे अवसर में प्रमाद करना योग्य नहीं है। जिसके अनुभव की वीणा की झंकार होते ही पर्याय में अतीनिद्रय आनंद के वेदन से आत्मा डोल उठता है—ऐसा मैं स्वयं हूँ—इसप्रकार ज्ञानी अंतर्मुख होकर आत्मा का चिंतवन करता है।

ज्ञानी ऐसे आत्मा का चिंतवन करते हैं, यह बतलाकर अन्य मुमुक्षुओं से भी आत्मा का चिंतवन करने को कहा है। अभी तो ज्ञान में जो ऐसे आत्मा का सच्चा निर्णय न करे, उसे उसका ध्यान या चिंतन कहाँ से होगा ? धर्मी तो कहते हैं कि हमारी अनुभूति में केवलज्ञान की मूर्ति परम स्वभावी आत्मा जयवंत वर्तता है, वह स्वयं विद्यमान वर्तता है; हमारी श्रद्धा में, हमारे ज्ञान में, हमारे वेदन में वह आया है, इसलिये वह जयवंत है, उसी का हम स्वतत्त्वरूप से चिंतवन करते हैं, उसमें किसी परभाव का कभी प्रवेश नहीं है। अरे, एक क्षण भी ऐसे आत्मा का चिंतवन तो कर। ऐसे चिंतन के क्षण, वे अपूर्व क्षण हैं।—

निजभाव को छोड़े नहीं, परभाव किंचित् नहिं ग्रहे,
देखे व जाने सर्व वह मैं, —ऐसा ज्ञानी चिंतवे॥97॥

अहा, देखो तो सही, आत्मा का परम स्वभाव ! अपने सहज केवलज्ञानादि अनंत स्वभावों सहित जो सदा विराजमान है, अपने परमभाव से जो कभी पृथक् नहीं है—ऐसा मैं हूँ—इसप्रकार ज्ञानी चिंतवन करता है।

परमस्वभाव की भावना, वह परम भावना है। रागादि की भावना, वह तो विभाव की भावना है। राग के-विकल्प के किसी अंश में कहीं थोड़ी भी मिठास रहे, अथवा उसके साधन से आत्मानुभव में सरलता होगी—ऐसा माने, तो उसको राग से पार परमस्वभाव की भावना नहीं हो सकती। ज्ञानी को तो अपने अंतर में सदा ऐसे परमस्वभाव की ही सन्मुखता है।—ऐसे स्वभाव की भावना, वह जिन-परमेश्वर का मार्ग है।

जिसे सम्यक्त्व हुआ, जिसके चैतन्यनेत्र खुले, वह अपने अंतर में केवलज्ञानस्वभावी कारणपरमात्मा को जयवंत देखता है, उनका उसे कभी विरह नहीं है। भाई, ऐसा तेरा परम स्वभाव, उसे तू किंचित् मंद मत करना, उसकी परम अचिंत्य महिमा को जरा भी ढीला मत करना। परम महिमापूर्वक उसे ग्रहण करने से (अर्थात् श्रद्धा-ज्ञान-चिंतन में लेने से) रागादि समस्त परभाव छूट जायेंगे, यही मोक्ष के कारणरूप सच्चा प्रत्याख्यान है।

अहा, परमस्वभावी चैतन्य का स्वसंवेदन!—उसमें भव के किसी भाव का प्रवेश नहीं है, भव और भव के भाव उससे बिल्कुल बाहर हैं। ऐसे चैतन्य का चिंतन करते ही मोहशत्रु का ध्वज उड़ जाता है। पर्याय तो अंतर में परमात्मस्वभाव की भावनारूप परिणमित हो गई, वहाँ अब मोह काहे में रहेगा? अंतरोन्मुख हुई धर्मी की पर्याय में मोह तो क्षयवंत है और परमात्मतत्त्व जयवंत है। वह पर्याय तो राग से पार होकर सिद्ध के दरबार में पहुँच गई; उसमें अब परभाव कैसा? अहा, ऐसी भावना में अपूर्व आनंद है, वह भावना सदा भाने योग्य है।

अहो, मेरा आत्मा अपने अनंत ज्ञान-आनंदमय परमभाव को कभी नहीं छोड़ता, सदा परमस्वभावरूप ही मैं हूँ और संसार के कारणरूप रागादि परभाव, उन्हें मेरा आत्मा कभी ग्रहण नहीं करता, उन परभावोंरूप मैं कभी हो नहीं जाता। पुनश्च, यह केवलज्ञानादि भाव, वह मेरा स्वभाव और मैं उसका आधार—ऐसे आधार-आधेय का विकल्प भी मुझमें नहीं है, आधार-आधेय के विकल्प बिना अपने कारणपरमात्मा को सहज अंतर्मुख अवलोकन द्वारा मैं सदा जानता हूँ। पर्याय स्वयं अंतर्मुख हो गई है, उसमें कोई परभाव नहीं रह सकता। वह पर्याय सदा परमस्वभाव की ओर ढली रहती है अर्थात् उसमें तन्मय होकर उसी को ग्रहण करती है और परभावों से पृथक् की पृथक् रहकर उन्हें छोड़ती है। इसप्रकार धर्मी को सदा प्रत्याख्यान वर्तता है। उसकी एक भी पर्याय ऐसी नहीं है कि जो अपने परमस्वभाव को छोड़ती हो। पर्याय-

पर्याय में उसके श्रद्धा-ज्ञान में अपने परमस्वभाव का ग्रहण वर्तता है। उससे विरुद्ध किसी भी रागादि परभाव को धर्मी की पर्याय अपने में ग्रहण नहीं करती, उसे अंतर्मुख पर्याय से बाहर का बाहर ही रखती है।—ऐसे स्वसंवेदनरूप चैतन्यतत्त्व मैं हूँ—ऐसा धर्मी अनुभव करता है। ज्ञानी के ऐसे आत्मचिंतन में सर्व धर्मों का समावेश है, आत्म-गुणों की अनंत समृद्धि का उसमें समावेश है; इसलिये धर्मी ऐसा अनुभव करता है कि मेरी श्रद्धा में आत्मा है, मेरे ज्ञान में आत्मा है, मेरे चारित्र में आत्मा है, मेरी सर्व अंतर्मुख पर्यायों में मेरा शुद्ध आत्मा ही सदा परिपूर्ण विराजमान है। अरे, स्वभाव कभी अल्प होता होगा?—मेरा स्वभाव सदा केवलज्ञानादि अनंत स्वभावों से परिपूर्ण है। ऐसे स्वभाव का ग्रहण (अनुभव, स्वीकार) जिस पर्याय में न हो, उसमें धर्म कैसा? धर्मी को श्रद्धा-ज्ञान-संयम-तप आदि सर्व निर्मल पर्यायों में अपने परमस्वभाव की तन्मयता वर्तती है, इसलिये उसी का ग्रहण है और अन्य समस्त परभावों का त्याग है। चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन हुआ, तभी से ऐसी दशा होती है। ऐसे आत्मा का सेवन उसकी सर्व पर्यायों में होता है। क्या अग्नि अपने उष्णभाव को कभी छोड़ती है?—नहीं; उसीप्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा अपने निजस्वभाव को कभी छोड़ता नहीं है और कभी किसी परभाव का ग्रहण नहीं करता; पृथक् का पृथक् ही रहता है।

अहा, चैतन्य के परमामृत का स्वाद लिया, फिर संसार में मन कैसे लगे?

[श्री नियमसार, गाथा 130-131]

धर्मी ऐसा आत्मचिंतन करता है कि अहो! जहाँ परभावों से पृथक् होकर हमने अपने चैतन्य परमभाव को जाना, उसके अद्भुत-अचिंत्य-परमसुख का वेदन किया, वहाँ हमारा चित्त अब निरंतर उसी में लग रहा है; अन्यत्र कहीं नहीं लगता। अहो, ऐसे अद्भुत सुखस्वरूप का अनुभव करने के पश्चात उस एक में ही चित्त लगा है—उसमें कोई आश्चर्य नहीं है। अमृत का भोजन करनेवाले देव दूसरे कड़वे भोजन का स्वाद क्यों लेंगे? उसीप्रकार चैतन्य के महा आनंद का स्वाद चखने के पश्चात् अब जगत के किसी पदार्थ में हमारा चित्त नहीं लगता।

परम स्वभावोन्मुख धर्मात्मा अपने स्वानुभव से जानते हैं कि मेरा आत्मा अचिंत्य चैतन्य-चिंतामणि है, उसका चिंतन करके जितना सुख चाहूँ, उतना मिलता है। अरे, सुख

माँगना भी नहीं पड़ता। मेरा आत्मा स्वयं सहज सुख के वेदन-स्वरूप है, उस सुख में विकल्प की भी अपेक्षा कहाँ है ? जगत के जड़ चिंतामणि रत्न के निकट तो वस्तु माँगो, तब मिलती है; यह चैतन्यमणि तो बिना माँगे (बिना विकल्प के) स्वयमेव अनंत सुखनिधानरूप परिणमित होता है, अन्य किसी पदार्थ की अपेक्षा उसे नहीं है।—ऐसे आत्मचिंतन में धर्मी का चित्त लगा है; दुनिया बदल जाये, तब भी वह नहीं बदल सकता।

अहा, चैतन्य के आनंद का अतीन्द्रिय रस चखने के पश्चात् अब देवों के अमृत में भी हमारा चित्त नहीं लगता। आत्मा का सुखनिधान अंतर में देखा, वहाँ अब अन्य किसी पदार्थ से हमें क्या प्रयोजन ? अपने चैतन्य में हमारी परिणति प्रविष्ट हो गई है, उसमें से निकालने में अब कोई समर्थ नहीं है। भीतर चैतन्यसुख में प्रवेश किया सो किया... अब उसमें से बाहर आकर परभाव में-दुःख में जानेवाले नहीं हैं। आनंद स्वभाव का ग्रहण किया है और अब सदा आनंदरूप ही रहेंगे।

स्वर्ग के देवों को अन्नादि का आहार नहीं होता, वे तो अपने कंठ से झरनेवाले अमृत का आहार लेते हैं। अमृत का स्वाद लेनेवाले देवों को अनाज का भी प्रयोजन नहीं है तो फिर विष्टा आदि की तो बात ही क्या ? उसीप्रकार अतीन्द्रिय आनंद के चैतन्यरस से भरपूर यह चैतन्यदेव, उसकी जिसे प्रतीति हुई और स्वसंवेदन में चैतन्यरस का पान किया, वहाँ उस चैतन्यरस के महान वीतरागी स्वाद के निकट जगत के पुण्य-पाप के किसी स्वाद में उसका चित्त नहीं लगता। अहा! ज्ञानात्मक सुख का स्वाद लेनेवाले यह चैतन्यदेव, उसे पुण्य का रस भी चैतन्य से बिल्कुल भिन्न लगता है, वहाँ पाप के रस की तो बात ही क्या ? पुण्य-पाप रहित जो अपूर्व चैतन्यरस, उसका स्वाद अज्ञानियों ने कभी चखा ही नहीं है, उस चैतन्य की कल्पना भी वे नहीं कर सकते। अहा, जिसने एकबार चैतन्यसुख का स्वाद चख लिया, उसे जगत के किसी पदार्थ में या शुभाशुभभावों में रस नहीं रहता, चैतन्यसुख के सिवा अन्यत्र कहीं उसका चित्त स्थिर नहीं होता।

देवों का अमृत, वह तो जड़-पुद्गल का रस है, उसमें कहीं चैतन्यसुख नहीं है; और यह तो चैतन्यसुख का अतीन्द्रिय अमृत है, जिसे चखने के बाद संसार में जनम-मरण नहीं रहता। चैतन्य के अमृत के निकट देवों का अमृत भी बिल्कुल नीरस है। चैतन्यसुख के

निराकुल अमृत के निकट पुण्य का सुकृत भी आकुलतारूप होने से दुःखरूप लगता है; इसलिये धर्मात्मा-मुनिवर उसे भी छोड़कर अद्वितीय चैतन्यसुख में लीन होते हैं।

अहा, आत्मा में से आनंद का अमृत झरे, उसका नाम धर्म है। जिसप्रकार देवों का अमृत उनके कंठ से ही झरता है, बाहर से नहीं आता, उसीप्रकार यह चैतन्यसुखरूप अतीन्द्रिय अमृत आत्मा के अपने असंख्य प्रदेशों से झरता है, वह कहीं बाहर से या राग से नहीं आता।

चैतन्यसुख कैसा है ?—द्वंद्वरहित है:—जिसमें अपने चैतन्यतत्त्व के अतिरिक्त किसी अन्य के साथ जरा भी संबंध नहीं है, तथा उपद्रवरहित है; चैतन्यसुख में कोई उपद्रव नहीं है। बाह्य में सिंह खा जाये या शरीर जले, तथापि चैतन्यसुख में किंचित् विघ्न नहीं होता। चैतन्यसुख में लीन पांडवों का शरीर बाह्य में जल रहा था, तथापि उनके चैतन्यसुख में भंग नहीं पड़ा, उन्होंने चैतन्यसुख में लीन रहकर केवलज्ञान प्राप्त किया।—ऐसा उपद्रवरहित है चैतन्यसुख! और वह उपमारहित है; जगत के किसी पदार्थ द्वारा चैतन्यसुख की पहिचान नहीं करायी जा सकती। इंद्रों की विभूति द्वारा भी चैतन्यसुख के किसी अंश की तुलना नहीं हो सकती। तथा यह सुख नित्य है, आत्मा के स्वभाव से ही उत्पन्न होने के कारण वह नित्य है; संयोगों के परिवर्तन से उसमें परिवर्तन नहीं होता क्योंकि वह सुख संयोगों पर आधारित नहीं है; वह तो अपने आत्मा से उत्पन्न हुआ है, उसमें किसी अन्य द्रव्य की भावना नहीं है, अन्य किसी का आश्रय नहीं है। चैतन्य के आश्रय से—चैतन्य की भावना से आत्मा स्वयं परमसुखरूप हुआ है।—अहा, ऐसा अद्भुत चैतन्यसुख!

अहो, ऐसे चैतन्यसुख के समक्ष पुण्य की शुभवृत्ति भी दुःखरूप लगती है, इसलिये उसे भी छोड़कर संत चैतन्यचिंतामणि में ही उपयोग को एकाग्र करके परमानंद का अनुभव करते हैं।

अहा, जैन गुरुओं के सम्यक्सेवन द्वारा अद्भुत चैतन्यमहिमा जानकर हमने अतीन्द्रिय सुख चखा, अब कोई भी परद्रव्य या राग का कोई भी अंश हमें अपने स्वरूपरूप भासित नहीं होता। चैतन्यसुख से भरपूर आत्मा ही स्वद्रव्यरूप से अनुभव में आता है। ऐसा अनुभव ही सच्ची गुरुसेवा है, वही गुरुआज्ञा है।

अहो, तेरा आत्मा अपार महिमावान है, उसमें प्रवेश कर और पर से दूर हट जा... ऐसा

श्रीगुरु का आदेश है। तदनुसार जिसने श्रीगुरु की सेवा से जान लिया है, वह विद्वान अब राग की या पर की महिमा क्यों करेगा? चैतन्य की अपूर्व महिमा को जो जानता है, वही सच्चा विद्वान है और उसी ने गुरु की आज्ञा का पालन किया है। अहा, चैतन्य की शरण में जो शांति आती है, वह शांति कहीं किसी परद्रव्य की शरण में नहीं आती। वीतराग का सेवन करनेवाले विद्वान राग को भला क्यों मानेंगे? सब राग को, शुभराग को भी दुःखरूप जानकर वे उसे छोड़ते हैं और चैतन्य के अद्वितीय सुख का अनुभव करते हैं।—यही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, यही प्रत्याख्यान तथा संवर है, यह धर्म तथा मोक्षमार्ग है, यही जैनगुरुओं की सीख है और यही जैनशासन का सार है।

मुनिराज कहते हैं कि—हमने किया, वह तू भी शीघ्र कर

जो मुक्तिसाम्राज्य का मूल है—ऐसे इस निरुपम सहज परमआनंदमय चैतन्यस्वरूप का एक का ही बुद्धिमान पुरुषों को सम्यक् प्रकार से ग्रहण करना योग्य है। इसलिये हे सखा! हे मित्र! मेरे इस उपदेश के सार को सुनकर तू भी इस चैतन्यचमत्कार में अपनी मति को शीघ्र लगा!

मुनिराज कहते हैं कि—आत्मा के मार्ग से हम मोक्ष में जो रहे हैं और तुझे भी वह मार्ग बतला रहे हैं। इसलिये हे सखा! तू भी हमारे साथ ही मोक्ष के मार्ग में चल! हे सखा! मोक्ष के मार्ग में हमारे साथ आने के लिये तू तुरंत ही हमारी भाँति अपने चैतन्यचमत्कार को अनुभव में ले। देखो तो सही, मुनिराज कैसे वात्सल्यभाव से मोक्षमार्ग की प्रेरणा देते हैं। मित्र कहकर संबोधन करते हैं कि हे मित्र! कोई अच्छी वस्तु हो तो अपने मित्र को याद करके उसे देते हैं, उसीप्रकार मुनिराज कहते हैं कि हे मोक्ष के रसिक मित्र! हमने चैतन्य के अद्भुत सुख का स्वाद ले लिया है, तू भी उस सुख का इसी समय आस्वादन कर और हमारे साथ मोक्ष के मार्ग में आ!

सुख का उपाय

भाई, तुझे सुखी होना हो तो अपने ज्ञान में परमात्मा की स्थापना कर, बाह्य विषयों को स्थान न दे। आनंद तो तेरा स्वरूप है, उसमें विषयों की आवश्यकता कहाँ है ? इसलिये तो कहते हैं कि हे जीव ! सुख अंतर में है, उसे बाह्य में न ढूँढ़ ! जगत को संतुष्ट करने में और जगत से संतुष्ट होने में तो जीव ने अनंतकाल गँवा दिया, परंतु उसमें किंचित् सुख नहीं है... अंतर्मुख रुचि द्वारा अपने आत्मा को संतुष्ट कर और आत्मा के स्वभाव से तू संतुष्ट हो, तो तुझे सच्चे सुख का अनुभव होगा। संयोग द्वारा संतुष्ट न हो, राग द्वारा संतुष्ट न हो, आनंद का भंडार तेरे अंतर में भरा है, उसमें तू संतुष्ट हो, प्रसन्न हो, आनंदित हो।

जिसने चैतन्य का सुख देखा है, वह धर्मात्मा जगत के किसी विषय में लुभाता नहीं है। चैतन्य में भरा हुआ अनंत सुख का भंडार धर्मी को ऐसा लुभाता है कि वह उसी के स्वाद में तल्लीन हो जाता है। अनंत सुख के धाम में जो लुभाया, वह किन्हीं सांसारिक विषयों के लालच में नहीं फँसता। सांसारिक पदार्थों की लालसा उसे छूट गई है और चैतन्यानन्द के अनुभव की उत्कृष्ट लालसा (प्रीति) जागृत हुई है; उसमें तल्लीन—एकाग्र होकर वह अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव करता है। वही सुखी है।

जीव स्वयं ज्ञानस्वरूप है। स्वयं ज्ञानस्वरूप होने पर भी, मानों राग का स्वाद ही स्वयं हो—इसप्रकार अज्ञानी जीव अपने को रागरूप अनुभव करता है। धर्मी जीव ज्ञान द्वारा हंस की तरह विवेक करे राग से भिन्न ज्ञान का स्वाद लेता है। चैतन्यस्वाद लेनेवाला धर्मी जीव किसी रागादि भाव को कदापि अपनेरूप नहीं मानता। रागादि को अपने चैतन्यभाव से बिल्कुल भिन्न ही जानता है।

मोक्ष के कारणरूप श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र

—उनमें शुद्धात्मा का ही आश्रय है, किसी अन्य का नहीं।

(श्री समयसार गाथा २७६-७७ के प्रवचन से)

आत्मा का बंधन से छुटकारा और मोक्ष का साधन किसप्रकार हो, सो कहते हैं। आत्मा का जो शुद्धस्वभाव, उसके आश्रय से होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वही मोक्ष का उपाय है। शास्त्र के अवलंबन से होनेवाला ज्ञान, नवतत्त्वों की श्रद्धा अथवा छह काय जीवों की दया, ऐसा जो व्यवहार है, उसमें पर का अवलंबन है, उसके आश्रय से मोक्ष का साधन नहीं होता। व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-आचरण के वे विकल्प हों या न हों, उनके आश्रय से कहीं मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो शुद्धात्मा के आश्रय से ही है।

जहाँ-जहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हो, वहाँ-वहाँ शुद्धात्मा का आश्रय होता ही है, इसलिये अभेददृष्टिरूप निश्चय में तो शुद्ध आत्मा स्वयं दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

परंतु जहाँ-जहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हो, वहाँ-वहाँ व्यवहार श्रद्धा आदि के विकल्प होते ही हैं—ऐसो नियम सिद्ध नहीं होता, क्योंकि व्यवहार के उन विकल्पों के बिना भी निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र शुद्धात्मा के आश्रय से विद्यमान वर्तते हैं; इसलिये नवतत्त्वादि संबंधी विकल्प, वह कहीं सम्यक्त्वादि का आधार नहीं है।

भाई, तेरे सच्चे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-आनंद में तो तेरे आत्मा का ही आश्रय होगा या किसी दूसरे का? मोक्ष के कारणरूप जो सच्चे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, वे आत्मा के ही आश्रय से होते हैं, पर का आश्रय उनमें कहीं किंचित् भी नहीं है। जो पर के आश्रय से किंचित् भी लाभ माने, उसने सच्चे मोक्षमार्ग को नहीं जाना है।

● जैन मार्गानुसार जीवादि नवतत्त्वों के भेद को जाने, परंतु यदि भेद से पार शुद्धात्मा का आश्रय करके उसकी श्रद्धा न करे तो उस जीव को सम्यक्त्व नहीं होता।

— और यदि शुद्धात्मा के सन्मुख होकर उसकी श्रद्धा करे तो वहाँ नवतत्त्व के भेद के विकल्प हों या न हों, तथापि सम्यक्त्व का सद्भाव ही है। इसप्रकार शुद्धात्मा के ही आश्रय से

सम्यक्त्व होने का नियम सिद्ध हुआ; इसलिये सम्यक्त्व के लिये मुमुक्षु को निश्चयरूप शुद्धात्मा ही आश्रय करनेयोग्य है और व्यवहार आश्रय करनेयोग्य नहीं है।

❀ **अब इसीप्रकार सम्यग्ज्ञान में:**—भगवान के कहे हुए आचारांगादि शास्त्रों का परोन्मुखी ज्ञान करे, परंतु यदि शास्त्रों के शब्दों से पार शुद्धात्मा का आश्रय करके उसे न जाने तो उस जीव को सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

— और यदि शुद्धात्मा के सन्मुख होकर उसका ज्ञान किया तो, वहाँ शास्त्रों के शब्दों का ज्ञान हो या न हो, तथापि सम्यग्ज्ञान का सद्भाव ही है। इसप्रकार शुद्धात्मा के ही आश्रय से सम्यग्ज्ञान होने का नियम सिद्ध हुआ। इसलिये सम्यग्ज्ञान के हेतु मुमुक्षु को निश्चयरूप शुद्धात्मा ही आश्रय करनेयोग्य है और व्यवहार का आश्रय करनेयोग्य नहीं है।

❀ **इसीप्रकार सम्यक्चारित्र में:**—जिनदेव के कहे हुए छहकाय जीवों की रक्षारूप अहिंसादि पंच महाव्रत के शुभपरिणाम होने पर भी उस शुभ से पार ऐसे शुद्धात्मा का आश्रय करके यदि उसमें स्थिर न हो तो उस जीव को सम्यक्परिणाम नहीं होता।

और जो जीव शुद्धात्मा के सन्मुख होकर उसमें लीन हुआ है, उसे छहकाय जीवों की रक्षा आदि के विकल्प हों या न हों, तथापि उसे सम्यक्चारित्र का सद्भाव ही है। इसप्रकार शुद्धात्मा के ही आश्रय से सम्यक्चारित्र होने का नियम हुआ। इसलिये सम्यक्चारित्र के लिये मुमुक्षु को निश्चयरूप शुद्धात्मा ही आश्रय करनेयोग्य है और व्यवहार का आश्रय छोड़ने योग्य है।—

व्यवहारनय इस रीति जान, निषिद्ध निश्चयनयहि से।
मुनिराज जो निश्चयनयाश्रित, मोक्ष की प्राप्ति करे॥272॥

अहो, स्वाश्रयरूप निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का नियम बतलाकर आचार्यदेव ने मोक्षमार्ग का स्वरूप स्पष्ट समझाया है। स्वाश्रय द्वारा प्रगट हुई सम्यक्त्वादि शुद्धपर्यायों को आत्मा में अभेद करके उसे शुद्ध आत्मा ही कहा और आत्मा को भूलकर अकेले पराश्रय से जो परोन्मुखी भाव हुए, उन्हें पर में अभेद किया; परोन्मुखी भाव में आत्मा तो नहीं आया... अरे, जिसमें आत्मा न आये, जिसमें आत्मा की शांति का वेदन न आये, उसे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र कौन कहेगा?—उसे मोक्ष का कारण कौन कहेगा? सम्यग्दर्शन में तो अपूर्व शांति के

वेदनसहित संपूर्ण आत्मा आया है; इसीप्रकार सम्यग्ज्ञान में, सम्यक्चारित्र में तथा तपादि में परम आनंदसहित भगवान आत्मा विराजमान है; इसलिये अभेदरूप से ऐसा कहा कि शुद्ध-आत्मा ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। द्रव्य के आश्रय से सम्यक्त्वादि शुद्धपर्याय हुई—ऐसा भेद न करके आत्मा ही सम्यक्त्व है—ऐसा अभेदरूप से कहा है; क्योंकि सम्यक्त्वादि सर्व पर्यायों में शुद्ध आत्मा ही आश्रयरूप है, अन्य कोई नहीं। स्वसन्मुखी परिणाम को स्व में अभेद किया, परसन्मुखी व्यवहार को पर में अभेद किया;—इसप्रकार स्वाश्रय और पराश्रयभावों के (शुद्धता और रागादि के) स्पष्ट विभाग कर दिये।

अरे भाई! तेरी पर्याय में तो तू स्वयं होगा या कोई दूसरा? तेरे ज्ञान में तो तेरे आत्मा का आश्रय होगा या शास्त्रों के शब्दों का? तेरे दर्शन में तो तेरा शुद्ध आत्मा होगा या नवतत्त्वों के विकल्प? तेरे चारित्र में तो तेरे आत्मा में रमणता होगी या छहकाय जीवों की दया का राग होगा? राग में-विकल्प में-शब्दों में कहीं तेरे दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं हैं, तेरे शुद्धआत्मा के आश्रय में ही तेरे दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं।

❀ जहाँ-जहाँ शुद्धात्मा का आश्रय है, वहाँ-वहाँ ज्ञान-दर्शन-चारित्र है।

❀ शुद्धात्मा के आश्रय बिना पराश्रित व्यवहारभाव करे, तथापि वहाँ ज्ञान-दर्शन-चारित्र नहीं होते।

इसलिये शुद्धात्मा के आश्रय से ही मोक्षमार्ग होने का अबाधित नियम है, इसलिये मुमुक्षु को शुद्धात्मारूप निश्चय आश्रय करनेयोग्य है। पर के आश्रय से मोक्षमार्ग होने का नियम टिकता नहीं है, इसलिये पर के आश्रयरूप व्यवहार आदरणीय नहीं किंतु त्याज्य है। इसप्रकार निश्चयनय द्वारा व्यवहार का निषेध जानो। ऐसे शुद्धात्मा की सन्मुखतारूप निश्चयनय के आश्रय से मुनि भगवंत निर्वाण प्राप्त करते हैं।

जैनमार्गानुसार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का जो व्यवहार है, उसके आश्रय से भी मोक्षमार्ग नहीं सधता; तो फिर जिसे जैनमार्ग के व्यवहार की भी खबर नहीं है, व्यवहार भी जिसका मिथ्या हे, उसकी तो बात ही क्या? अरे, निश्चयसहित व्यवहार भी जिसके पास है, उसे भी, जितने पराश्रित व्यवहारभाव हैं, वे कोई मोक्ष का कारण नहीं होते, शुद्धात्मा के आश्रयरूप निश्चय-श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र हैं, वही मोक्ष का कारण होते हैं।

व्यवहार है, उसके कारण निश्चय होता है—ऐसा नहीं है; परंतु उस समय शुद्धात्मा का आश्रय है, इसी से निश्चय है।

❀ नवतत्त्वों के विकल्प हैं, इसलिये सम्यग्दर्शन है—ऐसा नहीं है; शुद्धआत्मा का आश्रय है, इसी से सम्यग्दर्शन है।

❀ शास्त्रों का जानपना है, इसलिये सम्यग्ज्ञान है—ऐसा नहीं है; शुद्धात्मा का आश्रय है, इसी से सम्यग्ज्ञान है।

❀ छहकाय जीवों की दया का शुभराग है, इसलिये चारित्र है—ऐसा नहीं है; शुद्धात्मा का आश्रय है, इसी से सम्यक्चारित्र है।

— इस प्रकार निश्चय से शुद्धात्मा ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

— ऐसे निश्चय श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र हों, वहाँ उनके साथ कदाचित् भूमिकानुसार नवतत्त्व के विकल्प, शास्त्रज्ञान या छहकाय के जीवों की दया का भाव, ऐसा व्यवहार हो, तथापि उसका कर्तृत्व धर्मी को नहीं है और उस व्यवहार के आश्रय से कहीं धर्मी के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र स्थिर नहीं हैं; उस समय अंतर में उनसे भी पार जो शुद्धात्मा का आश्रय है, वही मोक्ष का कारण है।—ऐसा जानकर मुमुक्षुओं को शुद्धात्मा के आश्रय का सेवन करना और व्यवहार के आश्रय की बुद्धि छोड़ना—ऐसा भगवान का उपदेश है।

धर्मात्मा की दृष्टि

शुद्धात्मा की द्रव्यदृष्टि होने से पर्याय अंतर में शुद्धस्वभाव के साथ अभेद हुई; वहाँ उसमें रागादि का कर्तृत्व कैसे रहे ? इसलिये द्रव्यदृष्टिवंत धर्मात्मा को रागादि का अकर्तापना ही है, सम्यक्त्वादि निर्मल भाव का ही कर्तापना है। 'शुद्धात्मा मैं'—ऐसे वेदन में 'राग सो मैं'—ऐसा वेदन कैसे आयेगा ? शुद्धात्मा में जिसकी दृष्टि नहीं है और राग में ही जिसकी दृष्टि है, ऐसे अज्ञान को ही पराश्रितभाव में रागादि का कर्तृत्व है। ज्ञानी को शुद्धात्मा की दृष्टि में रागादि का अकर्तापना ही है। धर्मी के चैतन्य-हृदय में तो परमात्मा का ही निवास है, उसमें राग नहीं रह सकता।

समकित सावन आयो

ज्ञानरूपी मेघ वर्षा हुई... भवदावानल बुझ गया!

सम्यक्त्व को श्रावण मास की उपमा दी गई है; श्रावण के महीने में जिसप्रकार मेघवर्षा होने से सर्वत्र शांति छा जाती है, उसीप्रकार सम्यक्त्व होने से आत्मा में अपूर्व शांतरस की मेघवर्षा होती है! छहढाला में पंडित दौलतरामजी कहते हैं कि—सम्यग्ज्ञानरूपी मेघवर्षा ही इस भयंकर दु:खाग्नि को बुझाने का उपाय है:—

'विषयचाह दवदाह जगतजन-अरनि दझाबै;
तास उपाय न आन, ज्ञानघनघान बुझावे।'

अहो, ज्ञान और राग की भिन्नता के भावभासन द्वारा जहाँ सम्यग्ज्ञान हुआ, वहाँ आत्मा में चैतन्य के शांत रस की ऐसी मेघवर्षा हुई कि—अनादिकालीन विषय-कषाय की अग्नि क्षणमात्र में बुझ गयी। ज्ञान होते ही आत्मा कषायों से छूट गया और चैतन्य के परम शांतरस में निमग्न हुआ। पश्चात् जो अल्प रागादि रहे, वे तो ज्ञान से भिन्नरूप रहे हैं, एकरूप नहीं हैं। कषाय के किसी अंश को धर्मी जीव ज्ञान में एकाकार नहीं करते... ऐसा अपूर्व ज्ञान, वह परम महिमावंत है—ऐसा मुनिनाथ ने कहा है।

सम्यग्ज्ञान द्वारा आत्मा के अनुभव से अंतर में जहाँ शांत चैतन्यरस की धारा उल्लसित हुई, वहाँ धर्मी कहता है कि:—

अब मेरे समकित सावन आयो...

अनुभव दामिनि दमकन लागी, सुरति घटा घन छायो;
साधकभाव अंकूर उठे बहु जित-तित हरष छवायो...

—अब मेरे समकित० (पंडित भूधरदासजी)

हमारे आत्मा में सम्यक्त्वरूपी श्रावण मास आने से अब मोह की ग्रीष्म ऋतु का ताप

शांत हो गया है और शांत-शीतल रस की अविरल धारा असंख्य प्रदेशों में सर्वत्र बरस रही है; मोह की धूल अब नहीं उड़ती; स्वानुभवरूपी बिजली चमकने लगी है और धर्म के नवीन आनंदमय अंकुर फूटे हैं।—इसप्रकार धर्मी को सम्यग्ज्ञान की मेघवर्षा होने से परम आनंद होता है। जिसके अंतर में ऐसी सम्यग्ज्ञानधारा नहीं बरसती, वह अज्ञानी मोह के ताप में जलता है, उसके तो दुष्काल है। ज्ञान की मेघवृष्टि के बिना उसे शांति कहाँ से होगी? इसलिये हे जीव! तू सम्यग्ज्ञान कर!

अरे, तुझे अपना हित साध लेने का यह अवसर है, तो उसमें विकार से ज्ञान को भिन्न करने का अवसर क्या तुझे नहीं मिलेगा? यदि ज्ञान को विकार से भिन्न करने का प्रयत्न नहीं करेगा तो तुझे मोक्ष का अवसर कहाँ से आयेगा? सुलगते हुए सूखे जंगल की भाँति राग की चाह में जलता हुआ यह संसार... उससे छूटने के लिये अपने चैतन्याकाश में से तू सम्यग्ज्ञान के शांत-शीतल जल की मेघवृष्टि कर!

आत्मा की समझ में आये और आत्मा से हो ऐसी यह बात है। एक ओर वीतरागी शांतरस का समुद्र, दूसरी ओर संसार के रागरूपी दावानल—उन दोनों को भिन्न जाननेवाला सम्यग्ज्ञान राग के दावानल को बुझा देता है और आत्मा को शांत-तृप्त करता है।

जिसप्रकार शीतल बर्फ और उष्ण अग्नि—दोनों का स्पर्श बिल्कुल भिन्न है; उसीप्रकार शांतरसरूप ज्ञान और आकुलतारूप राग—इन दोनों का स्वाद बिल्कुल भिन्न प्रकार का है, वह ज्ञान से जाना जाता है। राग से भिन्न ज्ञान के अचिंत्य सुख का स्वाद जिन्होंने चख लिया है, ऐसे ज्ञानी जानते हैं कि—ज्ञान से भिन्न ऐसे जो शुभाशुभ इंद्रिय-विषय, उनमें कहीं मेरे सुख का अंश भी नहीं है; उनमें सुख मानना, वह मिथ्यात्व है। जहाँ सुख भरा है, ऐसे स्वविषय को भूलकर परविषयों में सुखबुद्धि के कारण मिथ्यादृष्टि जीव विषय-कषाय की भयंकर अग्नि में निरन्तर जल रहा है—दु:खी हो रहा है। अपने आत्मा को दु:खों की जलन से बचाने के लिये हे जीव! तू शीघ्र ही विषयों से भिन्न ऐसे अपने चैतन्य-अमृत के समुद्र को देख! कोई प्रियजन अग्नि में जल रहा हो या मकान में आग लगी हो तो उसे बचाने के लिये सारे काम छोड़कर कितने उद्यम करता है! तो यहाँ प्रिय में प्रिय ऐसा अपना आत्मा भयंकर भवदु:ख की अग्नि में जल रहा है, उसे बचाने के लिये हे जीव! तू शीघ्र उद्यम कर... एक सम्यग्ज्ञान ही उसका उपाय

है। सम्यग्ज्ञान होने पर आत्मा में अतीन्द्रिय शांतरस की मेघवर्षा होगी। यह सम्यग्ज्ञान ही भयंकर संसार-दावानल से बचने का एकमात्र उपाय है; इसलिये मुनिवरों ने सम्यग्ज्ञान की अति प्रशंसा की है।

अहा, देखो तो सम्यग्ज्ञान की महिमा! सम्यग्ज्ञान हुआ, वहाँ आत्मा में धर्म की वर्षा प्रारंभ हुई और शांति का अमृतरस बरसने लगा। सम्यग्ज्ञान होने पर चैतन्य में शांति की शीतल धाराएँ बहने लगती हैं और वे विषय-कषाय की अग्नि को बुझा देती हैं। सम्यग्ज्ञान के बिना अन्य किसी उपाय से जीव के विषय-कषाय नहीं मिटते और उसे सुख-शांति का अनुभव नहीं होता। इसलिये हे जीव! तू शीघ्र सम्यग्ज्ञान प्रगट कर। धर्म के अंकुर उगाने के लिये अब यह 'श्रावण मास' आ गया है।

विविध समाचार

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)—पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी सुख-शांति में विराजमान हैं। सवेरे श्री नियमसारजी के परम समाधि अधिकार पर तथा दोपहर में श्री समयसारजी के सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार पर आध्यात्मिक प्रवचन हो रहे हैं। परमागम मंदिर का निर्माणकार्य बराबर चल रहा है। अगले वर्ष अर्थात् वीर निर्वाण संवत् 2500 में परमागम मंदिर का उद्घाटन करने का विचार है। तदुपरांत परमागम मंदिर में भगवान महावीर स्वामी की एक विशाल पद्मासन प्रतिमाजी विराजमान करने का निर्णय हो चुका है, इसलिये पंच कल्याणक-प्रतिष्ठा का भी भव्य महोत्सव मनाया जायेगा। प्रतिमाजी के निर्माण का आदेश दिया जा चुका है। प्रतिमाजी के निचले भाग में मानो वीर भगवान की दिव्य वाणी का प्रवाह झेलकर श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव समयप्राभृत में भर रहे हों—ऐसा दृश्य संगमरमर में उत्कीर्ण किया जायेगा—जो अति भव्य होगा।—इसप्रकार तीन शिखरों युक्त परमागम मंदिर वीतरागी देव-

गुरु-शास्त्ररूपी रत्नत्रय से शोभायमान हो उठेगा। उसे देखने के लिये मुमुक्षुगण आतुरता से प्रतीक्षा कर रहे हैं।

इस वर्ष अकाल की परिस्थिति के कारण सोनगढ़ में शिक्षण-शिविर का आयोजन स्थगित कर रखा है; परंतु जो सज्जन पूज्य स्वामीजी के सत्संग एवं वाणी-श्रवण का लाभ लेने के लिये सोनगढ़ आना चाहते हों, उन्हें अपने निजी खर्च से भोजन की अच्छी सुविधा उपलब्ध होगी। ठहरने की सुंदर व्यवस्था है।

❀ ❀ ❀

विदिशा (म.प्र.) में

प्रशिक्षण-शिविर का आयोजन एवं स्वाध्यायमंदिर का उद्घाटन

विदिशा में तारीख 5-6-73 को जयपुर निवासी सेठ श्री पूरनचंदजी गोदीका के हस्त से एक नवनिर्मित स्वाध्यायमंदिर का उद्घाटन हुआ, जिसमें मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र को (स्थापनारूप में) विराजमान किया गया। स्वाध्यायमंदिर करीब एक लाख की लागत से बना है। जिसमें श्री गोदीकाजी ने अच्छा दान दिया है। इस अवसर पर नवीन 115 वीतरागविज्ञान पाठशालाएं खोलने के लिये अनुदान प्राप्त हुआ। आत्मधर्म पत्र के 110 ग्राहक बनाये गये। आध्यात्मिक साहित्य की अच्छी बिक्री हुई।

प्रशिक्षण-शिविर का उद्घाटना आगरा निवासी सेठ श्री पद्मचंद्रजी सर्राफ ने किया जो तारीख 27-5-73 से प्रारंभ होकर तारीख 15-6-73 को समाप्त हुआ। प्रतिदिन नौ घंटे तक विविध कार्यक्रम चलते थे। प्रात:काल 5 से 6बजे तक श्री नेमीचंदजी पाटनी तथा श्री ब्रह्मचारी हेमराजजी मोक्षमार्गप्रकाशक की कक्षाएँ चलाते थे, जिसमें पाँच सौ की संख्या में स्त्री-पुरुश उपस्थित रहते थे। श्री हीराबाईजी सोनगढ़ महिलाओं की कक्षाओं का संचालन करती थीं। सवेरे 6से 7 बजे तक श्री जिनमंदिर में सामूहिक पूजन होती थी, पश्चात् एक घंटे तक श्री पंडित बाबूभाई फतेपुरवालों का आध्यात्मिक प्रवचन होता था। तत्पश्चात् 9 से 10 बजे तक

श्री पंडित धन्नालालजी तथा श्री पंडित उत्तमचन्दजी, सिवनी द्वारा प्रौढ़ शिक्षण चलता था। बाल-शिक्षण कक्षाएँ भी प्रतिदिन चलती थीं जिनमें करीब 500 बालक शिक्षा लेते थे; इन्हें पढ़ाने के लिये बारह ट्रेनिंग प्राप्त अध्यापकों की व्यवस्था थी। दोपहर में 1 से 2 बजे तक शंका-समाधान और शाम को 3 से 5 बजे तक प्रशिक्षण कक्षाएँ चलती थीं। इस वर्ष 45 छात्राध्यापक प्रवेशिका प्रशिक्षण में, 110 शिक्षक बाल बोध प्रशिक्षण में सम्मिलित हुए। बाहर से आये हुए 200 मुमुक्षुओं ने लगातार 20 दिन तक रहकर सभी कार्यक्रमों का पूरा-पूरा लाभ लिया।

प्रतिदिन रात्रि को 8से 10 बजे तक सावरकर बालविहार के कालिदास रंगमंच पर श्री पंडित हुकमचंदजी तथा श्री पंडित बाबूभाई फतेपुरवालों के आध्यात्मिक प्रवचन होते थे; जिनका लाभ जैन समाज के अतिरिक्त अनेक जैनेतर बंधु भी लेते थे; जिनमें उच्च शिक्षा प्राप्त आफीसर, डाक्टर, वकील आदि रहते थे।

श्रुतपंचमी के दिन प्रात:काल श्री जिनवाणी-षट्खंडागम को पालकी में विराजमान करके गाजेबाजे के साथ रथयात्रा निकाली गई थी। करीब 400 महिलाएँ पीले वस्त्र पहिनकर जिनवाणी को मस्तक पर लिये चल रही थीं। श्रुत की प्रभावना का यह अद्भुत दृश्य था। शिविर में लगभग 25 विद्वान, 20 ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणी एवं क्षुलिलकाएँ तथा देशभर से 25 की संख्या में श्रीमंत लोग पधारे थे। जयपुर वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ द्वारा होनेवाले इससे पूर्व के 4 शिविरों में इस बार का शिविर विशेषरूप से सफल रहा।

अगला शिविर गुजरात में लगाने की श्री पंडित बाबूभाई ने यहाँ घोषणा कर दी है। इसके पूर्व महाराष्ट्र में श्री धन्यकुमार बेलोकर और श्री विजयालक्ष्मी पांगल ने दीपावली के अवकाश में खास प्रशिक्षण-शिविर लगाने की मंजूरी श्री पाटनीजी तथा श्री बाबूभाई से ले ली है; श्री धन्यकुमारजी बेलोकर जयपुर में बालबोध एवं वीतराग विज्ञान पाठमाला की छह पुस्तकों का मराठी भाषा में अनुवाद करीब एक महीने में पूर्ण करके छपवाएँगे और बासीम (शिरपुर-आकोला लाइन) में यह शिविर लगाने की विशाल तैयारी करेंगे। महाराष्ट्र के 20-25 व्यक्ति विदिशा के शिविर में आये थे। यहाँ की समस्त समाज ने शिविर की सफलता में अपना पूरा सहयोग दिया, अत: सभी को धन्यवाद!

इस शिविर से हम सब जो लाभान्वित हुए, उसमें सबसे महान उपकार तो परमपूज्य

गुरुदेव श्री कानजीस्वामी का ही है। श्री पंडित बाबूभाई, श्री पंडित हुकमचंदजी, श्री पाटनीजी, श्री जवाहरलालजी तथा वाणीभूषण श्री ज्ञानचंदजी विदिशा आदि ने भी अच्छा परिश्रम किया है।

तारीख 15-6-73 को गया निवासी श्री सेठ गजानंदजी पाटनी की अध्यक्षता में वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ का दीक्षांत समारोह बड़े ही धर्मोल्लास के वातावरण में हुआ और शिविर की पूर्णाहुति हुई।

❀ ❀ ❀

सनावद (म.प्र.)—दिनांक 16-7-73। श्रीमान् सेठ जवरचंदजी ज्ञानचंदजी सनावद (जतीशचंदजी के पिताजी) की ओर से अष्टाह्निका पर्व में श्री सिद्धचक्र-मंडल विधान समारोहपूर्वक आयोजित किया गया।

विदिशा से पधारे श्रीमान् पंडित रतनचंदजी शास्त्री के सारगर्भित प्रवचनों से महती धर्म-प्रभावना हुई। निमित्त-उपादान, पुण्य-पाप, निश्चय-व्यवहार, सात तत्त्व आदि गूढ़ विषयों पर आपके अत्यंत सरल, सुरुचिपूर्ण प्रवचन हुए। दिनांक 16-7-73 को रथयात्रा अत्यंत समारोहपूर्वक निकाली गई। —सोनचरण जैन

कुशलगढ़ (राज.) तारीख 15-6-73 से 30-6-73 तक जैन शिक्षण-शिविर का आयोजन सानंद संपन्न हुआ और वीतराग-विज्ञान पाठशाला चालू की गई।

—मंत्री, श्री दिगम्बर जैन पाठशाला

फालेगाँव (देशमुख)—यह तारीख 3-5-73 का समाचार विलंब से दिया जा रहा है। यहाँ कुल 200 घर की आबादी है, बहुत ही छोटा गाँव है; परंतु जैनधर्म के प्रति श्रद्धा-भक्ति के कारण यहाँ के समाज ने शिक्षण-शिविर का आयोजन करके शिविर में आये हुए 450 मेहमानों के निवास एवं भोजनादि की अच्छी व्यवस्था की थी। सोनगढ़ से दो विद्वान तथा जलगाँव से श्री मधुकरजी भी पधारे थे। शिक्षण-शिविर की सफलता के लिये वहाँ के समाज एवं कार्यकताओं को धन्यवाद! यहाँ से मलकापुर, रिठद, अनसिंग, पुसद, वेलोरा में जाकर प्रचार किया। पूज्य श्री कानजीस्वामी के जो आध्यात्मिक प्रवचन सोनगढ़ में होते हैं, उनके टेपरिकार्डों से जगह-जगह जैनधर्म का अच्छा प्रचार हो रहा है। — ब्रह्मचारी दीपचंद जैन

छिंदवाडा (म.प्र.)—विदिशा प्रशिक्षण शिविर के पश्चात् श्री ब्रह्मचारी दीपचंदजी लिखते हैं कि—मैं विदिशा से छिन्दवाड़ा आया हूँ और यहाँ के मंडल में स्वाध्यायादि के कार्यक्रम प्रारंभ किये हैं। श्री इंद्रसेनजी तथा श्री पाटनीजी आदि उपस्थित रहते हैं। विदिशा प्रशिक्षण शिविर में महाराष्ट्र के आठ जन बैठे थे जो सब उत्तीर्ण हुए हैं; मैं भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ हूँ।

सिवनी (म.प्र.)—यहाँ पाँच दिन तक कार्यक्रम हुए और तीर्थयात्रा की फिल्में दो बार प्रदर्शित की। करीब 1200 की उपस्थिति रही। यहाँ के श्री पंडित उत्तमचंदजी तथा श्री दशरथलालजी के माध्यम से कार्यक्रम दिये; समाज ने बड़ा हर्ष प्रगट किया।

जबलपुर (म.प्र.)—सिवनी से जबलपुर आकर छह दिन रहा; लार्डगंज के जिनमंदिर में तथा हनुमान ताल के जिनमंदिर में कार्यक्रम हुए। यहाँ श्री हरिश्चंद्रजी तथा जजसाहब श्री फूलचंदजी का अच्छा सहयोग रहा। यहाँ से करेली जा रहा हूँ।

—ब्रह्मचारी दीपचंद जैन

सुजनीपुर (जिला-दमोह, म.प्र.)—पंडित गोविंददासजी खडेरीवाले पूज्य स्वामीजी के प्रवचनों के टेपरिकार्ड आमंत्रण आने पर सुनाने के लिये जाते हैं और प्रवचनादि भी करते हैं; हमारे यहाँ तारीख 20-5-73 से 4 दिन तक हमेशा चार घंटा कार्यक्रम दिया। आसपास के गाँव सासा, केवलारी आदि दस ग्रामों के समाज ने बहुत प्रेम-सहित पंडितजी द्वारा धर्म का स्वरूप समझने का लाभ लिया; हम सोनगढ़ संस्था के विशेष आभारी हैं।

— दयाचंद जैन

मौ (जिला-भिंड, म.प्र.)—पंडित श्री शांतिकुमारजी जैन वीतराग-विज्ञान पाठशाला के निरीक्षणार्थ तथा धर्म-प्रचारार्थ प्रवास करते हैं, मुमुक्षु मंडलों की प्रगति के बारे में सुझाव देकर शास्त्रसभा आदि करते हैं। उनकी रिपोर्ट:—

गोरमी (म.प्र.)—श्री प्रकाशचंदजी पांडे द्वारा वीतराग-विज्ञान पाठशाला सुचारुरूप से चल रही है। स्वाध्याय का क्रम भी चालू है। सभी स्त्री-पुरुषों एवं छात्रों में धर्म के प्रति विशेष उत्साह है।

मेहगाँव (म.प्र.)—ब्रह्मचारी हेमराजजी की प्रेरणा एवं अध्यक्षता में मुमुक्षु मंडल की स्थापना हुई। 45 लोगों ने स्वाध्याय करने का नियम लिया। व्यवस्था अच्छी है। मंत्री श्री चंद्रजी जैन हैं।

अमायन (म.प्र.)—श्री बेनीरामजी अध्यापक द्वारा नियमितरूप से पाठशाला तथा स्वाध्याय चालू है। लोगों की धर्म के प्रति अच्छी रुचि है।

रोन (म.प्र.)—वीतराग-विज्ञान पाठशाला तथा स्वाध्याय का कार्यक्रम श्री रघुनाथजी जैन द्वारा चलता है, सबको अच्छा उत्सा है।

गोहद (म.प्र.)—वीतराग-विज्ञान पाठशाला चालू करने को उत्साहित किया गया तथा नित्य स्वाध्याय करने की प्रेरणा दी गई। जैन समाज में जागृति आ रही है।

—पूरनचंद जैन, मौ

आध्यात्मिक कवित्त

ज्ञान उदै जिन्हके घट अंतर, ज्योति जगी मति होत न मैली।
बाहिज दृष्टि मिटी जिन्हके हिय, आतमध्यान कला विधि फैली॥
ये जड़-चेतन भिन्न लखैं, सुविवेक लिये परखैं गुण थैली।
ते जग में परमारथ जानि, गहे रुचि मानि अध्यातम शैली॥

(—कविवर बनारसीदासजी)

❀ ❀ ❀

जब से अपनो जिय आप लख्यो, तब से जु मिटी दुविधा मन की।
यों सीतलचित्त भयो तब ही सब, छांड दई ममता तन की॥
चिंतामणि जब प्रगट्यो घर में, तब कौन चाहि करै धन की।
जो सिद्ध में आपु में फेर न जानै सो, क्यों परवाह करे जनकी॥

❀ ❀ ❀

केवलरूप महा अति सुंदर, आपु चिदानंद शुद्ध विराजै।
अंतरदृष्टि खुलै जब ही तब, आपु ही में अपनो पद छाजै॥
सेवक साहिब कोउ नहीं जग, काहे को खेद करै किहूँ काजै।
अन्य सहाय न कोउ तिहारै जु, अंत चल्यो अपनो पद साजै॥

❀ ❀ ❀

जबलों राग-द्वेष नहीं जीते, तबलों मुकति न पावै कोई।
जबलों क्रोध-मान मन धारत, तबलों सुगति कहाँतें होई॥
जबलों माया-लोभ बसै उर, तबलों सुख सपनै नहिं कोई।
ए अरि जीत भयो जो निर्मल, शिवसंपति बिलसतु है सोई॥

(— भैया भगवतीदासजी)

प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
मुद्रक : मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)